

प्रकार उनके समय में हिन्दी समालोचना का मार्ग कुछ और प्रशस्त हुआ।

द्वार विहार मिथ-बन्धुओं ने 'हिन्दी-नव-रत्न' और 'मिथ-बन्धु-निबोध' नामक दो ग्रंथ लिख कर हिन्दी के आलोचना-क्षेत्र में नवजाति पैदा कर दी। पञ्चम पुस्तक में हिन्दी के चन्द से लेकर भारतेन्दु तक की महा-कविता का विवेचन है। इस स्तुत्य कार्य द्वारा मिथ-बन्धुओं ने हिन्दी में 'नव-रत्न' की सत्समालोचना का मार्ग खोल दिया। दूसरा ग्रंथ यद्यपि 'नव-रत्न' का अनुसंधान ही है तो भी अपनी कोटि का श्लाघ्य प्रयास है। 'मिथ-बन्धु' की इन दोनों पुस्तकों द्वारा कवियों तथा काव्यों के मननशील एवं विवेचनापूर्ण तुलनात्मक अध्ययन को आलोचना में प्रधानता देने की प्रवृत्ति का सूत्रपात हुआ और उत्कृष्ट एवं प्रशस्त समालोचना का मार्ग खुल गया।

इसके बाद 'विहारी' पर पं० परसिंह शर्मा ने एक आलोचनात्मक पुस्तक निकाली। मिथ-बन्धुओं ने जिस तुलनात्मक आलोचना-मार्ग की ओर संकेत किया था इस पुस्तक में उसको प्रधानता दी गई है। 'आर्षा-पञ्चशती' और 'गाथा सप्तशती' संस्कृत काव्यों के पद्यों के साथ विहारी की तुलना करके विहारी की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया। इन दोहों की तुलना अनेक अन्य कवियों की रचनाओं से करते हैं। विहारी के समक्ष उन कवियों को हीन सिद्ध करने का प्रयत्न है। इस प्रकार इस पुस्तक में लेखक ने काव्य-मनोसात्मक विवेचन, आलोचना व्यवहृत करने का प्रयत्न किया और परम्परागत नरूपिणी सौली का निर्वाह किया, परन्तु वे भी लड़ि से बाहर गहारी को येनकेन प्रकारेण श्रेष्ठ सिद्ध करने के प्रयत्न में लेखक ने मर्यादा का भी उल्लंघन कर गया और वही-वही तो प्रमाणित हो जाता है। मूल से छायानुवाद तक की वही-वही महत्ता दर्शाने का प्रयत्न किया गया। इस पुस्तक की मर्यादा के अंग ही है। इन प्रतियों के होते हुए भी

२६

— २११६८१ — ११

का कार्य सराहनीय है। पुस्तक अपने ढंग की अनूठी है और साहित्य में अच्छा स्थान रखती है।

सर्माजी की यह तुलनात्मक शैली विशेष लोकप्रिय हो गई। लोग हमके पीछे घेतरह पड़ गये और तुलना करना ही समालोचना मानी जाने लगी। अनेक लेखक मैदान में उतर आये और पत्र-पत्रिकाओं में ऐसी आलोचना की भरमार हो गई। दो कवियों की रचनाओं में वस्तु-भाव-साम्य न होने पर भी तुलनाएँ प्रस्तुत की जाने लगी और एक को दूसरे से श्रेष्ठ सिद्ध करने के प्रयत्न में कलम का जोर आजमाया जाने लगा। इस प्रकार समालोचना की घूम तो खूब मची पर ऊँचे प्रकार की आलोचनाओं का अभाव ही रहा। हा, इतना अवश्य हुआ कि इस दौड़-धूप में भाषा का रूप निखर उठा और खड़ी बोली परिष्कृत, परिमार्जित एवं साहित्यिक हो गई और उसका रूप स्थिर हो गया।

(३) नवीन काल—

ऊपर के विवरण से यह ज्ञात हो जाता है कि अब तक हिन्दी-आलोचना का प्रवाह अपने मूल-स्थान से कुछ आगे अवश्य बढ़ आया था पर उमका मैलापन अभी तक दूर न हो सका था। मिथवन्धु, पद्मसिंह आदि की आलोचनाओं में समालोच्य कवि या काव्य की विशेषताओं पर दृष्टि तो अवश्य रखी गई पर उनमें पक्षपात की छाया का प्रभाव अवश्य बना रहा, जिसके कारण गुण या दोष प्रदर्शन का कार्य प्रतिफलित हुआ। 'देव बड़े कि बिहारी' के भट्टे सगडे की प्रवृत्ति के फलस्वरूप कवियों को छोटा-बड़ा प्रमाणित करने वाली जो आलोचनाएँ हुईं उन्हें शुद्ध समालोचना में स्थान देना उचित नहीं। हा, कुछ गिनी-चुनी आलोचनाएँ अवश्य हुईं जिन्हें अपवाद-स्वरूप कहा जा सकता है। इधर योष्य की समीक्षा-पद्धति का आश्रय लेकर अंग्रेजी पढ़े-लिखे हिन्दी समालोचकों ने जो आलोचनाएँ प्रस्तुत की वे अत्यन्त हास्यास्पद थीं। अंग्रेजी कवियों की समीक्षाओं से उद्धृत उचित्य और पदावलियों को हिन्दी लिबास में हिन्दी कवियों के लिए प्रयुक्त किया जाने

प्रकार उनके समय में हिन्दी गमालोचना का मार्ग कुछ और प्रगम हुआ ।

इस विद्वत् मिथ-बन्धुओं ने 'हिन्दी-मय-रत्न' और 'मिथ-बन्धु-पिनोद' नामक दो ग्रंथ लिख कर हिन्दी के आलोचना-क्षेत्र में नवजाति पैदा कर दी । प्रथम पुस्तक में हिन्दी के चन्द से लेकर भारतेन्दु तक नौ महा-कवियों का विवेचन है । इस स्तुत्य कार्य द्वारा मिथ-बन्धुओं ने हिन्दी में विवेचनापूर्ण गमालोचना का मार्ग मोल दिया । दूसरा ग्रंथ यदि कवियों का इतिवृत्त-ग्रन्थ ही है तो भी अपनी कौटि का दलाय्य प्रयास है । मिथ-बन्धुओं की इन दोनों पुस्तकों द्वारा कवियों तथा काव्यों के मननशील एवं विवेचनापूर्ण तुलनात्मक अध्ययन को आलोचना में प्रधानता देने की प्रणाली का सूत्रपात हुआ और उत्कृष्ट एवं प्रगस्त गमालोचना का मार्ग खुल गया ।

इसके बाद 'बिहारी' पर पं० पद्मिह शर्मा ने एक आलोचनात्मक पुस्तक निकाली । मिथ-बन्धुओं ने जिस तुलनात्मक आलोचना-मदति की ओर सकेत किया था इस पुस्तक में उसको प्रधानता दी गई है । 'आर्य-सप्तशती' और 'गाथा सप्तशती' संस्कृत काव्यों के पद्यों के साथ बिहारी के दोहों की तुलना करके बिहारी की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया । इसी प्रकार इन दोहों की तुलना अनेक अन्य कवियों की रचनाओं से करते हुए लेखक ने बिहारी के समक्ष उन कवियों को हीन मिथ करने का प्रयत्न किया है । इस प्रकार इस पुस्तक में लेखक ने काव्य-समीक्षात्मक विवेचन तथा तुलनात्मक आलोचना व्यवहृत करने का प्रयत्न किया और परम्परागत गुण-दोष-निरूपिणी शैली का निर्वाह किया, परन्तु वे भी रुढ़ि से बाहर न जा सके । बिहारी को येनकेन प्रकारेण श्रेष्ठ मिथ करने के प्रयत्न में लेखक आलोचना की मर्यादा का भी उल्लंघन कर गया और कही-कही तो पक्षपात स्पष्ट लक्षित हो जाता है । मूल में छायावाद तक की कही-कही अनुचित रूप से महत्ता दर्शाने का प्रयत्न किया गया । इस पुस्तक की शैली रोचक है और बातचीत के ढंग की है । इन त्रुटियों के होते हुए भी लेखक

का कार्य सराहनीय है। पुस्तक अपने ढंग की बनूरी है और साहित्य में अच्छा स्थान रखती है।

सर्माजी की यह तुलनात्मक घंटी विरंग लोचप्रिय हो गई। लोग हमारे पीछे बेतरह पड़ गये और तुलना करना ही समालोचना मानी जाने लगी। अनेक सेतक मैदान में उतर जाने और पत्र-पत्रिकाओं में ऐसी आलोचना की भरमार हो गई। दो बहियों की रचनाओं में वस्तु-भाव-साध्य न होने पर भी तुलनाएँ प्रस्तुत की जाने लगीं और एह की दूमे से थोड़ा मित्र करने के प्रयत्न में बलम का और आश्रमाया जाने लगा। इस प्रकार समालोचना की धूम तो खुद मची पर ऊँचे प्रकार की आलोचनाओं का अभाव हो रहा। हाँ, इतना अवश्य हुआ कि इस दीर्घ-युग में भाषा का रूप निरंतर उठा और खड़ी बोली परिकृत, परिमार्जित एवं साहित्यिक हो गई और उमरा रूप स्थिर हो गया।

(३) नवीन काल—

ऊपर के विवरण से यह ज्ञान हो जाता है कि अब तक हिन्दी-आलोचना का प्रकार अपने मूल-अर्थानुसार कुछ भागें अवश्य बढ़ जाता था पर उमरा मैदान अनी तक दूर न हो गया था। मिथवाण्डू, पद्मगिह आदि की आलोचनाओं में समालोच्य कवि या काल्य की विशेषताओं पर दृष्टि तो अवश्य रखी गई पर उनमें पञ्जाप की छाया का प्रभाव अवश्य बना रहा, जिसके कारण गुण या दोष प्रदर्शन का कार्य अनिश्चित हुआ। 'दूर दूरे कि दिहारी' के भरे शब्दों की प्रकृति के वास्तविक कवियों की छाया-वशात् प्रमाणित करने वाली जो आलोचनाएँ हुईं उन्हें कुछ समालोचना में स्थान देना उचित नहीं। हाँ, कुछ निर्दोष-बुरी आलोचनाएँ अवश्य हुईं जिन्हें अवश्य-वश्यक कहा जा सकता है। इससे लोग की समीक्षा-प्रकृति का आशय निरंतर अनेकों पत्र-पत्रिका हिन्दी समालोचकों के जो आलोचनाएँ प्रस्तुत की वे वास्तविक हस्ताक्षर की। अनेकी कवियों की रचनाओं के उद्गम उद्दिष्टों और परावर्तनों की हिन्दी मित्राण में हिन्दी कवियों के लिए अनुकूल बिना जाने

प्रकार उनके समय में हिन्दी समालोचना का मार्ग कुछ और प्रशस्त हुआ ।

द्वयर विद्दर मिश्र-बन्धुओं ने 'हिन्दी-नव-रत्न' और 'मिश्र-बन्धु-विनोद' नामक दो ग्रन्थ लिख कर हिन्दी के आलोचना-क्षेत्र में नवराशि पैदा कर दी । प्रथम पुस्तक में हिन्दी के चन्द से लेकर भारतेन्दु तक नौ महान् कवियों का विवेचन है । इस स्तुत्य कार्य द्वारा मिश्र-बन्धुओं ने हिन्दी में विवेचनापूर्ण सत्समालोचना का मार्ग खोल दिया । दूसरा ग्रन्थ यद्यपि कवियों का इतिवृत्त-संग्रह ही है तो भी अपनी कोटि का श्लाघ्य प्रयास है । मिश्र-बन्धुओं की इन दोनों पुस्तकों द्वारा कवियों तथा काव्यों के मननशील एवं विवेचनापूर्ण तुलनात्मक अध्ययन को आलोचना में प्रधानता देने की प्रणाली का सूत्रपात हुआ और उत्कृष्ट एवं प्रशस्त समालोचना का मार्ग खुल गया ।

इसके बाद 'विहारी' पर पं० परसिंह शर्मा ने एक आलोचनात्मक पुस्तक निकाली । मिश्र-बन्धुओं ने जिस तुलनात्मक आलोचना-पद्धति की ओर संकेत किया था इस पुस्तक में उसको प्रधानता दी गई है । 'आर्या सप्तसाती' और 'गामा सप्तसाती' सङ्गृह्यत काव्यों के पद्यों के साथ 'विहारी' के दोहों की तुलना करके विहारी की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया । इसी प्रकार इन दोहों की तुलना अनेक अन्य कवियों की रचनाओं से करते हुए लेखक ने विहारी के समक्ष उन कवियों को हीन सिद्ध करने का प्रयत्न किया है । इस प्रकार इस पुस्तक में लेखक ने काव्य-मनोदात्मक विवेचन तथा तुलनात्मक आलोचना व्यवहृत करने का प्रयत्न किया और परम्परागत गुण-दोष-निरूपणी सीली का निर्बाह किया, परन्तु ये भी कवि ने बाहर न जा सके । विहारी की येननेन प्रशारेण श्रेष्ठ गिद्ध करने के प्रयत्न में लेखक आलोचना की मर्यादा का भी उल्लंघन कर गया और वहीं-वहीं तो गण-पात स्पष्ट लक्षण हो जाता है । गुण के छायाबुझ तक की कड़ी-कड़ी अनुचित कद से महत्ता दर्शाने का प्रयत्न किया गया । इस पुस्तक की सीधी रोषक है और बागचीन के डग की है । इस भुटियों के होने हुए भी

लगा। इस प्रकार समालोचना-क्षेत्र में एक प्रकार की उच्छृंखलता ने प्रवेश कर लिया। आलोचना केवल व्यवसाय के लिए की जाने लगी और लक्ष्य से भ्रष्ट आलोचनात्मक लेखों की भरमार से पत्र-पत्रिकाओं के आवार बढ़ने लगे। ऐसे समय में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का आविर्भाव हुआ जिसे हिन्दी साहित्य के लिए देवी वरदान ही समझना चाहिए। शुक्लजी ने अपनी समय लेखनी और सक्षम चिन्तनशीलता से हिन्दी-आलोचना की काया-पलट कर दी। शुक्लजी ने हिन्दी-आलोचना को अभीष्ट मार्ग की ओर प्रेरित ही नहीं किया बल्कि उसमें उस मार्ग पर चलने की गति का भी संचार किया। शुक्लजी ने उस विवेचनात्मक या विदलेपणात्मक आलोचना का द्वार खोला जिसमें कवि-कार्य के अन्तरंग और बहिरंग दोनों रूपों पर गहन विचार एवं छान-बीन की जाती है तथा उसकी विशेषताओं को देश-काल की परिस्थिति में विचारते हुए निरूपित किया जाता है। कवि की विचार-धारा में प्रवेश कर आलोचक तटस्थ रहकर कवि की अन्तर्वृत्तियों का विवेचन करता हुआ आलोचना करता है—उस संली में शुक्लजी ने आलोचना करने का मार्ग-प्रदर्शन किया। शुक्लजी ने तुलसी, गूर और जायसी पर जो आलोचनाएँ की हैं वे माभिक, मननशील, और विस्तृत अध्ययन से परिपूर्ण हैं। शुक्लजी आलोच्य कवि के लिए पूरी सहानुभूति से भरा हुआ हृदय लेकर कई दृष्टियों से विवेचना करते हुए तथ्य पर पहुँचने और उसे उद्घाटित करने में ही आलोचक की सफलता समझते थे। इनकी तुलसी, गूर और जायसी पर की हुई आलोचनाएँ बड़ी गंभीर, व्यापक एवं सुन्दर हैं और अपनी बौद्धिक अतुल्य। हिन्दी में इन आलोचनाओं का विशेष महत्त्व है। इनमें कवियों के गुण-दोष निरूपण के साथ साहित्य में उनके स्थान-निर्धारण तथा उनके कवि-कर्म का व्यापारिक स्पष्टीकरण यही कुशलता के साथ किया गया है। इनके अनिश्चित इन्होंने 'वाक्य में रहस्यवाद' शीर्षक मधेयनामूर्त्य ग्रन्थ की रचना करते छायावाद के उद्घाटन प्रवाह को नियंत्रित कर दिया। 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' लिख कर शुक्लजी ने जो उदाहरणों में कार्य कर दिखाया, हिन्दी भाषे महा उनसे

रहेंगे। यह ग्रन्थ हिन्दी साहित्य के सब प्रकार के ज्ञान के लिए एक प्रामाणिक स्रोत है। इनके अनिर्विकल्प साहित्यिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए मुब्तजी ने बड़े श्रवण-निदर भी लिखे। इस प्रकार मुब्तजी एक आलोचक ही नहीं थे, बल्कि एक सुविज्ञ पद्यप्रदर्शक भी थे। मुब्तजी भारतीय वाक्य-सिद्धान्तों पर पूर्ण निष्ठा रखते थे और उन्होंने इन्हीं सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण एवं सुटीकरण किया है। मध्यमालोचना के प्रवाह को तेजी के साथ आगे बढ़ाने वाले में बाबू ध्यामगुप्तरदामजी भी विशेष उल्लेखनीय हैं। मुब्तजी के समान बाबूजी का भी महत्वपूर्ण स्थान है। सैद्धान्तिक आलोचना के क्षेत्र में बाबूजी सर्वप्रथम अग्रसर हुए थे और उन्होंने विशेषतः मौखिक साहित्य-सिद्धान्तों को दृष्टि में रखकर 'साहित्यालोचन' ग्रन्थ प्रस्तुत किया। इस ग्रन्थ में बला के नामाङ्गों का विवेचनापूर्ण स्पष्टीकरण, पारम्पर्य सिद्धान्तों का भारतीय सिद्धान्तों के साथ समन्वय तथा साहित्य के विविध अंगों पर विचारपूर्ण प्रकाश डाला गया है। इस ग्रन्थ में बाबूजी ने एक प्रकार से साहित्य की रूप-रेखा ही उपस्थित कर दी है। यह पुस्तक साहित्य के समीक्षात्मक अध्ययन के लिए एवं विद्यार्थी-वर्ग के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुई है। बाबूजी ने 'हिन्दी भाषा और उसका साहित्य' शीर्षक एक बृहद् ग्रन्थ लिखा, जिसका पूर्वाह्न हिन्दी भाषा के विकास एवं वैज्ञानिक प्रगति तथा उत्तरार्द्ध इतिहास के सम्बन्ध में गवेषणापूर्ण खोज तथा विवेचनात्मक आलोचना का परिचायक है। आपने गोस्वामी तुलसीदास और भारतेन्दु पर भी सुन्दर एवं मार्गभित्त आलोचनाएँ प्रस्तुत कीं। 'भाषा विज्ञान' के द्वारा भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया। भाषा पर आपने कई प्रामाणिक निवन्ध भी लिखे। आपका सम्पूर्ण जीवन ही हिन्दी की सेवाओं के लिए समर्पित रहा।

५० अयोध्यासिंह उपाध्याय जी ने भी आलोचना-क्षेत्र में प्रशंसनीय काम किया। आपकी गणना मननशील लेखकों में की जाती है। आप क्लिष्ट से क्लिष्ट एवं सरल से सरल हिन्दी लिखने की दमन रखते थे। उनके गद्य में भी पद्य का-ना आनन्द मिलता है। आप प्रसिद्ध भाषा-

मर्मज्ञ थे। आपकी 'मर्म-सर्वर' पुस्तक सुन्दर एवं मार्मिक आलोचनात्मक निष्कर्षों का संग्रह है जो साहित्य के विद्याधियों के लिए अत्यन्त लाभदायक है। स्वयं महाकवि होने के कारण कवि-कर्म की ओर मार्मिक व्याख्या एवं मूल्य तथा मार्गभित्त विवेचना आपकी रचना से हुई वह सर्वथा ग्रहणीय है। 'हिन्दी और उसके साहित्य का विकास' नाम का ग्रन्थ पटना विश्वविद्यालय में दिये गये आपके गारपूर्ण भाषणों का संग्रह है। इसी समय श्री पदुयलाल भुलाल बस्ती ने 'हिन्दी-साहित्य विमर्श' और 'विद्व-साहित्य' दो आलोचनात्मक पुस्तकें प्रकाशित की। 'विद्व-साहित्य' में पादचार्य मीमांसा के आधार पर लिखे गये अत्यन्त उपयोगी और प्रेरणा-प्रद लेखों का संग्रह है। आपके निबन्ध गम्भीर विचारों से युक्त होते हैं और विद्वत्ता, गम्भीर अध्ययनशीलता एवं विषाद विचार-शैली के परिचायक होते हैं। आप हिन्दी के गिने-भूने सुयोग्य विद्वानों एवं प्रकाण्ड पंडितों में से हैं। द्विवेदीजी के बाद 'सरस्वती' के सम्पादन का भार आप ही के सुयोग्य हाथों में आया था।

हिन्दी-समालोचना को अप्रसर करने में आ० गुलाबरायजी ने भी अपना पूर्ण सहयोग दिया है। आधुनिक समालोचना-साहित्य में आपका भी विशेष स्थान है। आप सुप्रसिद्ध दर्शन-वेत्ता एवं गम्भीर समालोचक हैं। आपका अध्ययन अत्यन्त विस्तृत एवं गहन है। आप समालोचना-पद्धति में आचार्य शुक्लजी के कार्यों की आगे बढ़ा रहे हैं। उसी आलोचना-पद्धति के समर्थक हैं। इनकी गणना समालोचना के सुवर्ण स्कूल में ही की जाती

है। 'हिन्दी-नाट्य विमर्श', 'आलोचना-संग्रह' तथा 'सिद्धान्त और अध्ययन' नामक आपके उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त 'साहित्य-संदेश' हिन्दी-आलोचना की ओर जो उपयोगी कार्य कर रहे हैं। आलोचना की दृष्टि से यह पत्र अपनी कोटि का है। आलोचना का स्तर अति प्रगत है तथा जो लेख इसमें आते हैं, वे सर्व कोटि के होते हैं। यदि कहीं से

इस पत्र के द्वारा सुखविपूर्ण आलोचना का बलाघनीय प्रचार एव प्रसार हो रहा है। वा० गुलाबरायजी की आलोचना-शैली गंभीर होती हुए भी सुबोध होती है। वे बात को सीधे सरल ढंग से उपस्थित करना खूब जानते हैं। भाषा भी सरल एव सीधी-सादी होती है। विद्यार्थियों की दृष्टि से भावूनों की आलोचना-शैली विशेष उपयोगी सिद्ध हुई है और वे विद्यार्थियों में अधिक प्रिय भी हो गये हैं। इस आलोचना-पद्धति को अप्रसर करने वालों में सर्वश्री डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, डा० धीरेन्द्र वर्मा, डा० रामकुमार वर्मा आदि के नाम भी विशेष उल्लेखनीय हैं। अपनी-अपनी दिशा में इन्होंने प्रशस्तनीय साहित्य की रचना की है और आलोचना के भण्डार को भरने में पर्याप्त योगदान किया है। प० हजारी प्रसाद द्विवेदी तो आज के युग के गंभीर विवेचक एव सुष्ठु पारखी माने जाते हैं। 'मूर-साहित्य', 'हिंदी-साहित्य की भूमिका' और 'कबीर' नाम की आलोचना-मुस्तक आपकी विशेष देन है। द्विवेदीजी की आलोचना गवेषणा के कार्य पर आधारित है। गंभीर विवेचन करते हुए आपने एक नवीन दृष्टिकोण उपस्थित करने के प्रयत्न किये हैं। आपकी भाषा मस्तूलमयी होती हुए भी विशेष आकर्षक एव बोधगम्य होती है। बीटी चुटकी भरना आप खूब जानते हैं।

आचार्य शुक्ल के योग्य गिण्टी में स्व० डा० बटवाल का नाम विशेष रूप से प्रसिद्ध है। समालोचना की प्रेरणा आपको सीधे शुक्लजी से ही मिली और उन्हीं के चरणों में बैठ कर आपने इन कार्य में कुशलता भी ग्रहण की। सन्त कवियों की विस्मृति के गर्भ में निजालने का ध्येय डा० बटवालजी की है। इन्होंने निर्गुण-आग्रहाय के गणों पर सौख्यपूर्ण कार्य किया तथा इस कार्य के लिये मार्ग प्रशस्त किया। आपका पारिष्टिक विद्यालय एव गहन था। मूर, तुलसी एवं बेराय पर लिखी आपकी आलोचनाएँ अप्रतिहारपूर्ण मिली जाती हैं। इस कार्य में आप डा० राममुन्दरदासजी के निर्देशन में भी कार्यरत रहे हैं।

इस प्रकार साहित्य के समालोचना-विभाग में निराला-निष्कण्ठ प्रशस्तक शैली, मोड़-आलोचनात्मक शैली, यूरोपीय ढंग की आलोचना

की नी लया भावात्मक समीक्षा पद्धति का हि प्रचलन करो में निराला ने महत्पूर्ण रचनाएँ की हैं। आ रही हैं। तुम्हारे आलोचना के माध्यमों को आलोचनात्मक विवक्षा की आरम्भित माध्यम बनाया है। लेखकों की समीक्षा में उपायान्वय बुद्धि होनी चाहिए।

नूतन समीक्षा-धर्म—

राजीव शर्मा में रवीन्द्र-शास्त्रिय के प्रभाव में एक नये ढंग की काव्य-पद्धति का अवगमन हुआ जिसे छायावाद कहा जाता रहा है। इस नये ढंग में समालोचना-शास्त्रिय का एक नई उपायान्वय प्रान्त हुई। छायावाद के अन्तर्गत में अनेक लेखकों ने भाग लिया। यह विवाद आचार्य नृपजी के समय में ही आरम्भ हो चुका था। स्व. प्रसाद, पन्त, निराला तथा महादेवीजी छायावाद काव्य के रचयिता तो थे ही, छायावाद के स्पष्टीकरण के लिये इन्होंने पर्याप्त लिखना भी पड़ा। प्रसाद जी ने 'छाया-वाद' शीर्षक निबन्ध में इस पर विमर्श प्रकाश डाला है। महादेवीजी का भी प्रबन्ध हुआ और नवीन हिन्दी-गद्य की भी सृष्टि हुई। समालोचना पद्धति का मूलपात हो गया। स्व. प्रसाद, निराला, महादेवीजी तथा शास्त्रिय द्वितीय इस नूतन पद्धति को विकसित करने वालों में प्रमुख हैं। ये आलोचक स्वयं कवि हैं और काव्य के मर्म तक इनकी पहुँच है। अतः यह पद्धति पहले की सभी पद्धतियों से निराली एवं प्रभाव-शाली है। इस नवीन आलोचना-पद्धति के सम्बन्ध में श्री शास्त्रिय-वन्धुजी के ढंग की है—“ये समालोचनाएँ न तो पद्यसिंह शर्मा-दरदासजी के ढंग की हैं और न आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और बा. सु. सिद्धि की लेकर काव्य-प्रकाश करती हैं। इनमें कला के शास्त्रीय मानक हैं, किन्तु उतना ही जितना शास्त्रीय प्रकाश में उन्हें प्रत्यक्ष है। साहित्य-शास्त्र को पिनल कोड के रूप में नहीं, बल्कि

साहित्य के सहायक के रूप में ग्रहण करते हैं। असल में यह कवि के साथ आत्ममिलन है, एक तटस्थ सामीप्य के साथ। तटस्थ सामीप्य के कारण ममोदक अपना कर्तव्य-विवेक अनर्गल नहीं होने देता, यो कोई अनर्गल भले ही अनर्गल हो जाय। नई समालोचनाओं में न तो पद्यसिंहजी की चुल-बुलहट है, न मिथ-वन्द्युओं का आर्टिफिशियल रिमार्क, न द्विवेदीजी का ऐंष्टिक कवि परिचय और न सुबलजी का गुरु-गहन शास्त्रीय विश्लेषण, हैं केवल हृदय सतरण या रममचरण। मरमना ही इनका गुण है, तरल अभिव्यक्ति इनकी सीढ़ी।”

इस शैली के आपुनिक प्रतिनिधियों में श्रीमती महादेवी वर्मा तथा श्री शान्तिप्रियजी द्विवेदी मुख्य हैं—आलोचना के उपरिलिखित गुण आप दोनों के लेखों में प्रमूढ मात्रा में विद्यमान रहने हैं। ये दोनों ही प्रतिष्ठित कवि और पद्यस्त्री समालोचक हैं। शान्तिप्रियजी ने ‘हमारे साहित्यनिर्माता’ ‘साहित्यिकी’, ‘संचारिणी’, ‘कवि और काव्य’ तथा ‘युग और साहित्य’ आदि अनेक आलोचना पुस्तकों की रचना की है। आपकी शैली यही अनुठी है। पढ़ने की हृदय पर सीधा प्रभाव डालने वाली है। इनकी शैली की प्रमुख विशेषता यह है कि आलोचना जैसे गंभीर विषय में भी काव्य का-सा आनन्द आता है। आपकी शैली और भाषा दोनों में ही भावमयता की मधुरता आंतर्गत रहनी है। इनकी अपनी ही एक नवीन शैली है।

श्रीमती महादेवी के गद्य में भी उपरिलिखित सभी गुण विद्यमान हैं। गंभीर प्रकृति की होने हुए भी उनके गद्य में भावमयता की तरल सहृदयता लहराती रहनी है जो पाठक के मन को ऊबने नहीं देती। विचार-नामोय और भाव-प्रवणता का एक ऐसा अनुशासित सामग्रस्य इनके आलोचनात्मक लेखों में पाया जाता है कि पाठक विषय की हृदयगम करता हुआ एक विशेष मरसता का अनुभव करता है। श्रमण: महादेवीजी की शैली में तरल अभिव्यक्ति और रसादता आदि से अन्त तक विद्यमान रहनी है। इनकी ‘महादेवी का विवेचनात्मक गद्य’ नामक पुस्तक में इनके आलोचनात्मक लेखों का

स्वयं श्रेष्ठ कविवित्री होने के नाते उनके काव्यालोचन का विशेष महत्त्व है। काव्य के अन्तर्गत दोनों स्वरूपों से उनका निजी धनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण उनके काव्य-शास्त्र-सम्बन्धी विचारों एवं काव्य-विवेचन का अपना निजी स्थान होना स्वाभाविक है। छायावादी-आलोचना स्कूल में श्रीमती महादेवी का स्थान सर्वोपरि है, इसमें सन्देह को स्थान नहीं। भाषा पर उनका गद्य में भी उतना ही बलपूर्ण अधिकार है जितना कविता में। इतना भेद अवश्य है कि इनका गद्य, भले ही वह विवेचनात्मक भी क्यों न हो, इनके काव्य से अधिक सुस्पष्ट होता है। काव्य में ये भावों के प्रवाह में अपने आपको भूल जाती-सी प्रतीत होती हैं तो काव्य की विवेचना में उतनी ही सजग एवं स्पष्टता-प्रिय। गहन विचारों का विश्लेषण करते समय सर्व-परिचित उदाहरणों के द्वारा ये ऐसे समझाती-सी जात होती हैं मानों कथा में ही लेखक दे रही हों। इनके उदाहरण प्रायः सरस एवं आस-पास के संसार से लिये हुए होते हैं।

हिन्दी के आलोचना-क्षेत्र में कुछ वर्षों से प्रगतिशील आलोचना नाम से एक और पद्धति का आविर्भाव हुआ है। वस्तुतः इस आलोचना प्रणाली का मुख्य ध्येय प्रगतिशील साहित्य का पृष्ठपोषण करना ही प्रतीत होता है। ये सब प्रकार की प्राचीन विवेचना-प्रणालियों के विरोध में स्रष्टा लेकर मैदान में उतरे हैं और इनके अनुसार प्राचीन-सब कुछ हेम और त्याग्य है। यदि इस मनीषा में कुछ सुधार हो जाये तो संभव है प्रगतिशील आलोचना द्वारा हिन्दी के काव्य-साहित्य में और भी उन्नति हो सके। इस प्रणाली के आलोचकों में डा० राम विलास शिवदान सिंह चौहान आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। श्री अज्ञेय का नाम भी इसी कोटि में गणनीय है।

ऊपर किये हुए संक्षिप्त विवेचन से हिन्दी के आलोचना-साहित्य पर एक विहंगम दृष्टि डालने का प्रयास किया गया है। आशा है इससे विद्यार्थीगण आलोचना के अन्य ग्रन्थों को पढ़ने के लिये प्रेरणा प्राप्त करेंगे।

विषय-सूची -

पद्याय

काव्य-कला

(भीमती महादेवी वर्मा)

१

भक्ति-काल की अन्तश्चेतना
(श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी)

३९

महाकवि सूरदास

(स्व० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल)

५७

गोस्वामी तुलसीदास

(डा० श्यामसुन्दरदास व डा० पीताम्बरदास)

९३

आचार्य कवि केदावदास

(श्री गुलाबराय)

१३३

ॐ (से०—धोमनी महारोषी दत्त)

सत्य पर जीवन का सुन्दर ताना-बाना करने दे —

स्यूल-सूदम सभी विषयों को अपना उद्देश्य दे —

कठोर स्थिति से दृढ़-रेखाओं की निष्पत्ति दे —

स्थिति और तब शब्द की सुदम स्थिति दे —

२१ प्रथम में यह जान लेना बहुत महत्व दे —

ॐ जीवन को पापान की भूतिमत्ता, महान —

ॐ सब

के लक्ष्य साधन विचार का बोध होता कठिन है और विचार की सत्य प्रतीति के सम्बन्ध में हम जहाँ की अनवधारिता की सम्पूर्ण समझती। अथवा सत्य के साथ हमारी स्थिति भी बहुत कुछ ऐसी ही होती है। जहाँ विचारों में हम अपनी सीमा में बंधे रहते हैं, उसे ऐसी स्थिति में रखकर देना आवश्यक हो जाता है जहाँ वह हमारी सीमा में गहरा हो सके।

[व्यक्ति की सीमा से तो सत्य की ऐसी दृष्टि स्थिति महत् हो नहीं सत्यप्रतिष्ठा भी है, अन्यथा उसे सत्यता: सहज करना सम्भव न हो सके। परन्तु, सत्य में अगम्य की दृष्टि स्थिति को प्रेरणादायक बना देना दुर्लभ नहीं तो कठिन अवश्य है। आकार की रेखाओं की सम्यक्, सम्पूर्ण चौड़ाई, हल्का भारीपन आदि गणित के अंकों में बाँधे जा सकते हैं, परन्तु रेखा से परिमाण तक व्याप्त सजीवता का परिचय संख्या, मात्रा या तोल से नहीं दिया जा सकता। आकार को ठीक माप-जोख के साथ दूगरे तक पहुँचा देना जितना गहन है, जीवन को सम्पूर्ण अनुलनीयता के साथ दूसरे को दे सकना उतना ही कठिन है।]

सत्य की व्यापकता से तो हम चाहे जिस अंश को ग्रहण करें वह हमारी सीमा में घुसकर व्यष्टिगत हो ही जाता है और इस स्थिति में हमारी सीमा के साथ साक्षेप, पर अपनी व्यापकता में निरपेक्ष बना रहता है। दूसरे के निकट हमारी सीमा से घिरा सत्य हमारा रहकर ही अपना परिचय देना चाहता है और दूसरा हमें तोलकर ही उस सत्य का मूल आंकने की इच्छा रखता है। इतना ही नहीं उसकी तुला पर रुचि-वैचित्र्य, सत्कार, स्वार्थ आदि के न जाने कितने पासगो की उपस्थिति भी सम्भव है, अतः सत्य के सापेक्ष ही नहीं निरपेक्ष मूल्य के सम्बन्ध में भी अनेक मतभेद उत्पन्न हो जाते हैं।

इसके अतिरिक्त मनुष्य की चिर अतृप्त जिज्ञासा भी कुछ कम नहीं रोकती ठोकती। 'हमने अमुक वस्तु को अमुक स्थिति में पाया' इतना कथन ही पर्याप्त नहीं, क्योंकि सुननेवाला कहीं-कहीं कहकर उसे अपने

के अङ्गों में बेंधी नाप-जोख के लिए स्थान नहीं।

मस्तिष्क और हृदय परस्पर रहकर भी एक ही पथ में नहीं चलते। बुद्धि में समानान्तर पर चलनेवाली निम्न-मिश्र योगिता है और अनुभूति में एतद्वारता लिये गहराई। ज्ञान के क्षेत्र में एक छोटी रेखा के नीचे उसमें बड़ी रेखा शीघ्रकर पहली का छोटा और भिन्न अस्तित्व दिखाया जा सकता है। इसके अमर्य उदाहरण, विज्ञान जीवन की स्मृत सीमा में और दार्शनिक जीवन की सूक्ष्म असीमता में दे चुका है। पर अनुभूति के क्षेत्र में एक की स्थिति में नीचे और अधिक गहराई में उतरकर भी हम उसके साथ एक ही रेखा पर रहने हैं। एक वस्तु का एक व्यक्ति अपनी स्थिति-विशेष में अपने विशेष दृष्टिकोण से देखता है, दूसरा अपने पराङ्मल पर अपने से और तीसरा अपनी सीमारेखा पर अपने में। तीनों ने वस्तुविशेष को जिन विशेष दृष्टिकोणों से जिन विभिन्न परिस्थितियों में देखा है वे उनके तद्विषयक ज्ञान की भिन्न रेखाओं में घेर लेंगी। इन विभिन्न रेखाओं के नीचे ज्ञान के एक सामान्य पराङ्मल की स्थिति है अथवा, परन्तु वह अपनी स्वाधी एतता के परिषद के लिए ही इस अनेकता को समाने रहती है।

अनुभूति के सम्बन्ध में यह बतियाई सरल हो जाती है। एक व्यक्ति अपने दुःख को बहुत तीव्रता से अनुभव कर रहा है, उसके निकट आत्मीय की अनुभूति में तीव्रता की मात्रा कुछ घट जायगी और आध्यात्मिक विश्व में उतार और भी लुप्त हो जाना सम्भव है; पर जहाँ तक दुःख के सामान्य संवेदन का प्रश्न है वे तीनों एक ही रेखा पर, निकट, दूर, अधिक दूर, की स्थिति में रहेंगे। हा, जब उनमें से कोई उन दुःख को, अनुभूति के क्षेत्र के निष्कारण शैक्षिक पराङ्मल पर रख देता तब क्या ही दृढ़ता हो जायगी। अनुभूति अपनी सीमा में जिह्वा रखने में अपनी बुद्धि नहीं। हमारे स्वयं चलने की हल्की अनुभूति भी दूसरे के साथ हो चलने के ज्ञान में अधिक रहती है।

प्रस्ताव

अभिज्ञान एवम् अन्य विषय

सत्य की प्राप्ति के लिए काव्य और कलाएँ जिस सौन्दर्य का सहारा लेते हैं वह जीवन की पूर्णतम अभिव्यक्ति पर आधारित हैं, केवल बाह्य रूपरेखा पर नहीं। प्रकृति का अनन्त वैभव, प्राणि-जगत् की अनेकात्मक गतिशीलता, अन्तर्जगत् की रहस्यमयी विविधता सबकुछ इनके सौन्दर्य-कोष के अन्तर्गत है और इसमें से सुदृढ़तम वस्तु के लिए भी ऐसे भारी मुहूर्त या उपस्थित होते हैं जिनमें वह पर्वत के समकदा सड़ी होकर ही सफल हो सकती है और गुप्ततम वस्तु के लिए भी ऐसे लघु क्षण या पल्लव होते हैं जिनमें वह छोटे तृण के माथ बँट कर ही कृतार्थ बन सकती है।

जीवन का जो स्पर्श विकास के लिए अपेक्षित है उसे पाने के उपरान्त छोटा, बड़ा, लघु, गुरु, सुन्दर, विरह, आकर्षक, भयानक, कुछ भी कला जगत् में महिष्कृत नहीं किया जाता। उज्जले कमलों की चादर जैसी चादन में मुस्कराती हुई विभावरी अभिराम^{मूर्ति} है, पर अंधेरे के स्तर पर स्तर ओढ़कर विराट् बनी हुई बाली रजनी भी कम सुन्दर नहीं। फूलों के बोझ से झुक झुक पड़नेवाली छता कोमल है, पर सून्य नीलिमा की ओर विस्मृत बालक-सा तावनेवाला ठूठ भी कम सुकुमार नहीं। अविरत जलदान से पूँजी की कँपा देनेवाला बादल ऊँचा है पर एक बूद औसु के भार से ना और वम्पित तृण भी कम उन्नत नहीं। गुलाब के रंग और नवनीत की कोमलता में कंकाल छिपाये हुए रूप भी कमलीय है, पर शरिरियों। जीवन का विज्ञान लिखे हुए बूढ़ भी कम आकर्षक नहीं। बाह्य जीव की कठोरता, संपर्क, जय-भराजय सब मूल्यवान् है पर अन्तर्जगत् के कल्पना, स्वप्न, भावना आदि भी कम अनमोल नहीं।

उपयोग की कला और सौन्दर्य की कला को लेकर बहुत से विवाद सम्भव होने रहे परन्तु यह भेद भूलकर एक दूसरे से बहुत दूरी पर न रहते।

कला शब्द से किसी निर्मित पूर्ण स्रष्टृ का ही बोध होता है जो कोई भी निर्माण करने वाला नहीं है।

अनुसार बुद्धिमान होने का प्रयास करना ही जीवन पर पड़ी जाती है और शर्मा वरा कृति उनके समाज पर, उन को बनाने वाले-जनों में फिर कहीं किसी देवी जाती है। इन बातों का साथ जीवन की परिधि में सीन्दर्य के माध्यम द्वारा व्यक्त होगा

सीन्दर्य साम्बन्धी समाज भी कुछ कम उलझी हुई नहीं है। बाह्य तत्त्वों के कारण ही और उन लोगों का, सुन्दर तथा कुछ में एक रूप में माने वाले सीन्दर्य को ही साथ का माध्यम बनाकर लोग को छोड़ केवल बाह्य देमाओं और लोगों का सामंजस्य ही सीन्दर्य कहा जाये तो न भूलण का मानव-सामान ही नहीं प्रत्येक व्यक्ति भी अपनी रचि में से मिलेगा। किताके रचि-रचि के अनुसार सामंजस्य की जाये यह प्रश्न साथ से भी अधिक पटल हो जाये

सत्य की प्राप्ति के लिए काव्य और कलाएं जिस सौन्दर्य का सहारा लेते हैं वह जीवन की पूर्णतम अभिव्यक्ति पर आधारित हैं, केवल भास रूपरेखा पर नहीं। प्रकृति का अनन्त वैभव, प्राणि-जगत् की अनेकात्मक गतिशीलता, अन्तर्जगत् की रहस्यमयी विविधता सबकुछ इनके सौन्दर्य-कोष के अन्तर्गत हैं और इसमें से सुदृढतम वस्तु के लिए भी ऐसे भारी मूहसं या उपस्थित होते हैं जिनमें वह पर्वत के समकटा सड़ी होकर ही सफल हो सकती है और मुक्ततम वस्तु के लिए भी ऐसे रघु दण या पटुषते हैं जिनमें वह छोटे तृण के साथ बैठ कर ही कृतार्थ बन सकती है।

जीवन का जो स्पर्श विकास के लिए अपेक्षित है उसे पाने के उपरान्त छोटा, बड़ा, लघु, गुरु, सुन्दर, विरह, आकर्षक, भयानक, कुछ भी कला-जगत् में बहिष्कृत नहीं किया जाता। तुजले बमलों की चादर जैसी चादनी में मुस्कराती हुई विभावरी अभिराम^{मूर्ति} है, पर अंधेरे के स्तर पर स्तर ओडकर विराट् बनी हुई काली रजनी भी कम सुन्दर नहीं। फूलों के बोझ से झुक-झुक पड़नेवाली रुता कोमल है, पर सून्य नीलिमा की ओर विस्मित बालक-सा ताकनेवाला ठूठ भी कम मुकुमार नहीं। अविरत जलदान से पृथ्वी को कैसा देनेवाला बादल ऊँचा है पर एक बूद औनु के भार से नत और कम्पित तृण भी कम उन्नत नहीं। गुलाब के रंग और नयनीत की कोमलता में ककाल छिपाये हुए रूपसी कमनीय है, पर झुरियों में जीवन का विज्ञान लिखे हुए बूढ़ भी कम आकर्षक नहीं। बाह्य जीवन की कठोरता, सपर्ष, जय-पराजय सब मूल्यवान् है पर अन्तर्जगत् की रूपना, स्वप्न, भावना आदि भी कम दनभोल नहीं।

उपयोग की कला और सौन्दर्य की कला को लेकर बहुत से विवाद सम्भव होते रहे परन्तु यह भेद मूलतः एक दूसरे से बहुत दूरी पर नहीं ठहरते।

कला राज्य से किसी निर्मित पूर्ण सण्ड का ही बोध होता है और कोई भी निर्माण अपनी अन्तिम रियति में जितना सीमित है आरम्भ में उतना ही फैला हुआ मिलेगा। उसके पीछे स्थूल जगत् का अस्तित्व,

दूसरे को अस्तित्वहीन बह-बहकर खोजने की चिन्ता से मुक्त होने लगे ।

सत्य तो यह है कि जब तक हमारे सूक्ष्म अन्तर्जगत् का बाह्य जीवन में पग-पग पर उपयोग होता रहेगा तब तक कला का सूक्ष्म उपयोग सम्बन्धी विवाद भी विशेष महत्व नहीं रख सक्ता । हमारे जीवन में सूक्ष्म और स्थूल की जैसी सम्बन्धमात्मक स्थिति है वही कला को, केवल स्थूल या केवल सूक्ष्म में निर्वासित न होने देगी । जब हम एक व्यक्ति के कार्य को स्वीकार करेंगे तब उसकी पटभूमिका बने हुए वायवी स्वप्न, सूक्ष्म आदर्श, रहस्यमयी भावना आदि का भी मूल्य आँकना आवश्यक हो जायगा और कला यदि उस वातावरण का ऐसा परिचय देती है जो कार्य से न दिया जा सकेगा तो जीवन को उसके लिए भीतर-बाहर के सभी द्वार खोलता पढ़ेंगे ।

उपयोग की ऐसी निम्नोन्नत भूमिका हो सकती है जो अपने बाह्य रूपों में एक दूसरी से सर्वथा भिन्न जान पड़े; परन्तु जीवन के व्यापक धरातल पर उनके मूल्य में विशेष अन्तर नहीं रहता ।

हमारी निराशों में संचरित जीवन-रस और दूर मिट्टी में उत्पन्न अन्न के उपयोग में प्रत्यक्ष वितना अन्तर और अप्रत्यक्षतः कौंसी एकता है यह कहने की आवश्यकता नहीं । रोगी की व्याधिविरोध के लिए दारु-विशेष उपयोगी हो सकता है, परन्तु उसके निराहने किसी सहृदय द्वारा रसा हुआ अधगिला गुलाब का फूल भी कम उपयोगी नहीं । अपनी वेदना में छटपटाता हुआ वह, उग फूल की धीरे-धीरे सिलने और हीले-हीले झड़नेवाली पत्तियों को देख देखकर, कितनी बार विश्राम की सांस लेता है, बिग प्रकार अपने अनेकपन को भर देता है, कितने भावों की सम-विषम भूमियों के पार आता-जाता है और बड़े चिन्तन के क्षणों में अपने आपको सोना पाता है, यह चाहे हमारे लिए श्रेष्ठ न हो, परन्तु रोगी के जीवन में तो सत्य रहेगा ही । चतुर चिकित्सक, रोग का निदान, उपयुक्त औषधि और पथ्य आदि का उपयोग स्पष्ट है, परन्तु रोगी को स्वस्थ दृष्टान्ति, वातावरण का अनिवार्य सामग्रस्य, सेवा करनेवाले का हृदयगत स्नेह, मद्भास आदि उपयोग में अप्रत्यक्ष होने के कारण कम

मानव जीवन है यह बात सभी भाषाओं में परिचित होना ।
यह वे सब सामाजिक स्थिति में सम्बन्ध रखनेवाला उपयोग भी इतना

परिचित है सब समूहों जीवन को अपनी परिधि में घेरनेवाले उपयोग का
अनन्त विस्तार रहस्यमय हो सकता है, यह स्पष्ट है ।

जिस प्रकार एक पशु के समूह में स्वेच्छा मुख्य तत्त्व अन्तर्गत उपयोग
है, उसी प्रकार एक जीवन को, मुख्यतः में स्वेच्छा मुख्य तत्त्व अन्तर्गत

परिस्थितियों के बीच में आगे बढ़ना होता है । इसके अतिरिक्त मनुष्य
के अभाव और उनही स्थितियों में इतनी सत्वांगी निर्दिष्टता है, उन्हें

कार्य-कारण के सम्बन्ध में इतनी आभासी व्यापकता है कि उपयोगविशेष
की एक रोगा में समाप्त जीवन को घेर लेने का प्रयास अशक्य ही रहेगा ।

मनुष्य का जीवन इतना एकांगी नहीं कि उसे हम केवल अर्थ, केवल काम
या एंगे ही किसी एक बगोटी पर परत कर सम्पूर्ण रूप में धरा या सोटा

बहु सार्थक । बगोटी से काटती लुटेरा भी अपने साधनों के साथ जितना सच्चा
है उसे देखाकर महान् साधनवादी भी लज्जित हो सकता है । बटोर से बटोर

अत्यापारी भी अपनी सन्तान के प्रति इतना कोमल है कि कोई भावुक भी
उत्तरी गुठला में न ठहरेगा । उद्धत से उद्धत बर्बर भी अपने माता-पिता

के सामने इतना विनम्र मिलता है कि उसे नम्र शिष्य की सजा देने की
इच्छा होती है । सारांश यह कि जीवन के एक छोर से दूसरे छोर तक जो,

एक स्थिति में रह सके ऐसा जीवित मनुष्य सम्भव नहीं, अतः एकान्त उप-
योग की कल्पना ही सहज है । जिस शब्द हुए मनुष्य की प्रत्यक्षा कभी नहीं उत-

रती वह लक्ष्यवेध के काम का नहीं रहता । जो नैन एक भाव में स्थिर है, जो
बोह एक मुद्रा में जड़ है, जो व्यंग एक स्थिति में अचल है वे चित्र या

मूर्ति में ही अंकित रह सकते हैं । जीवन की गतिशीलता में विश्वास कर
ने पर मनुष्य की असंख्य परिस्थितियों और विविध आवश्यकताओं

में विश्वास करना अनिवार्य हो उठता है और अभाव की विविधता से
उपयोग की बहुलता एक अविच्छिन्न सम्बन्ध में बंधी है । यह सत्य है

कि जीवन में किसी आवश्यकता का अनुभव नित्य होता रहता है और

विमो का यदा-कदा; परन्तु निरन्तर अनुभूत अभावो की पूर्ति ही पूर्ति है और जिनका अन्तर्भव ऐसा नियमित नहीं वे अभाव ही नहीं, ऐसी धारणा अग्रान्तिपूर्ण है ।

कभी कभी एकरस अनेक वर्षों की मुलना में सहानुभूति, स्नेह, सुख-दुःख के कुछ क्षण कितने मूल्यवान् ठहरते हैं, उसे कौन नहीं जानता ? अनेक बार, व्यक्ति के जीवन में एक छन्द, एक चित्र या एक घटना ने अभूतपूर्व परिवर्तन सम्भव कर दिया है । कारण स्पष्ट है । जब कवि, चित्रकार या संयोग के मार्मिक सत्य ने, उस व्यक्ति को, एक दार्शनिक कोमल मानसिक स्थिति में, छू पाया तब वे क्षण अनन्त कोमलता और करुणा के मौन्दर्य-द्वार खोलने में समर्थ हो सके । ऐसे कुछ क्षण युगों में अधिक मूल्यवान् अतः उपयोगी मान लिये जायें तो आश्चर्य की बात नहीं ।

वास्तव में जीवन की गहराई को अनुभूति के कुछ क्षण ही होते हैं, वर्ष नहीं । परन्तु यह क्षण निरन्तरता से रहित होने के कारण कम मही बहे जा सकते ! जो क्रूर मनुष्य मौ-मौ शास्त्रों के नित्य मनन से कोमल मही बन पाता वह यदि एक छोटे से निर्दोष बालक के सरल और आकस्मिक प्रश्न मात्र से द्रवित हो उठता है तो वह दार्शनिक प्रश्न शास्त्र-मनन की निरन्तरता से अधिक उपयोगी क्यों न माना जावे ! एक आणविक कौंय से प्रभावित अपि 'मा निषाद प्रतिष्ठ्या त्व'—कहकर यदि प्रथम दलोक और आदिवाय्य की रचना में ममर्थ हो सवा तो उस दृष्ट पक्षी की व्यापा को, मनीषी की ज्ञानगरिमा से अधिक मूल्य क्यों न दिया जावे ? यदि एक वैज्ञानिक, पल के गिरने से पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति का पता लगा सवा तो उस सुच्छ पल का टूटना, पर्वतों के टूटने से अधिक महत्वपूर्ण क्यों न समझा जावे !

यदि नित्य और नियमित स्थूल ही उपयोग की बगोटी रहे तो शरीर की कुछ आवश्यकताओं के अनिश्चित और कुछ भी, महत्त्व की परिधि में नहीं आता । परन्तु हमारे इस निष्कर्ष को जीवन तो स्वीकार करे ! बुद्धि में अपनी सीमा में स्थूलतम से सूक्ष्मतम तक सब कुछ ज्ञेय माना है और

आदर्श आलोचना

हृदय ने अपनी परिधि में उसे सवेदनीय । जीवन ने इन दोनों को समान रूप से स्वीकृति देकर इस दोहरे उपयोग को असंख्य विभिन्न और ऊँचे-नीचे स्तरों में विभाजित कर डाला है । जब इनमें से एक को लक्ष्य बनाकर हम जीवन का विकास चाहते हैं तब हमारा प्रयास अपनी दिसा में गतिशील होकर भी सम्पूर्ण जीवन को सामाज्यपूर्ण गति नहीं देता । जीवन की अनिश्चित से अनिश्चित स्थिति भी उपयोग के प्रश्न को एकांगी नहीं बना पाती । युद्ध के लिये प्रस्तुत सैनिक की स्थिति से अधिक अनिश्चित स्थिति और किसी की सम्भव नहीं, परन्तु उस स्थिति में भी जीवन भोजन, आच्छादन और अस्त्र-शस्त्र के उपयोग में ही सीमित नहीं होता ।

मस्तिष्क और हृदय को क्षय भर विधाम देनेवाले सुख के साधन, जीवन भोजन, आच्छादन और अस्त्र-शस्त्र के उपयोग में ही सीमित नहीं हो प्रियजनों के स्नेह भरे सदेश, रक्षणीय वस्तुओं के सम्बन्ध में ऊँचे-ऊँचे आदर्श, जय के गुनहले-रूपहले स्वप्न, अद्विग साहस और विश्वास की भावना, अन्तस्चेतना का अनुशासन आदि मिलकर ही तो बीर को बीरता से मरने और सम्मान से जीने की शक्ति दे सकते हैं । पौष्टिक भोजन मिलमिलाने कवच और षकाचीष उत्पन्न करनेवाले अस्त्रशस्त्र मात्र-बीर-हृदय का निर्माण नहीं करते, उसके निर्मायिक उपकरण तो अन्तर्जगत् में छिपे रहते हैं । यदि हम अन्तर्जगत् के बीमव की अनुपयोगी सिद्ध करना चाहें तो कवच मनुष्य की तुलना में उनकी आवश्यकताएँ नहीं के बराबर और उपयोग सहस्रगुण अधिक रहेंगे ।

उपयोग की ऐसी ही शान्ति पर तो हमारा यन्त्रगुण सदा है । परन्तु तार नै, हस्त नै, रौने थकने मरनेवाले मनुष्य को सोकर जो वीतराग, अपर और अमर देवता पाना है, उमाने जीवन को, आत्महत्या का वरदान देने के तिरिक्त और क्या किया ! समाज और राष्ट्र में मनुष्य की स्थिति न केवल तात्कालिक है और न अनिश्चित, अतः उसके जीवन से सम्बन्ध रखने-वाले उपयोग को, अधिक व्यापक धरातल पर स्थायित्व की देमाओं में देसना होगा ।

हृदय को लगी वर चुका मय हम उमरे और अपने सम्बन्ध को गायान्ता
 भौतिक आशान प्रदान की मुद्रा पर सोलने में अगमचं ही रहने ।

यदि हम बिग्री के दूर को बड़ा लेने तो दूसरा भी हमारे दुःख में
 सहभागी होगा, यह सामाजिक नियम न हमें स्मरण रहता है और न हम
 स्मरण करना चाहेंगे । दुर्गा से महानतम त्यागों के पीछे विधि-नियंदात्मक
 मैनिफेस्टा के समान आते रहे, परन्तु स्वयं विधि-नियम की सतर्क चेतना
 सम्भव नहीं रहती । मत्स्य खोलना उचित है, इस मिद्वान्त को गणित के नियम
 के समान रट-रट कर जो सत्य खोलने की शक्ति पाना है वह सच्चा मत्स्य-
 वादी नहीं । मत्स्यवादी तो उने कहेंगे जिनमें मत्स्य खोलना, विधि-नियम
 की सीमा पार कर स्वभाव ही बन चुका है । उपयोग की इस गूहम पर व्यापक
 भूमि पर मत्स्य में, जैसी एवता है, स्कूल और सक्तीर्ण घरातल पर बैसी ही
 अनेकता, इसी कारण समार भर के दाशनिव, धर्म-न्यायापक, कवि आदि
 के सत्य में, देशकाल और व्यक्ति की दृष्टि से विभिन्नता होने पर भी मूलगत

एकता मिलती है ।

सत्य तो यह है कि उपयोग का प्रश्न जीवन के समान ही निम्न-उन्नत, साम-विषम, प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष भूमियों में समान रूप से व्याप्त है और रहेगा ।

जहाँ तक काव्य तथा अन्य ललित कलाओं का सम्बन्ध है वे उपयोग की उन उन्नत भूमि पर स्थायी हो पाती हैं जहाँ उपयोग सामान्य रह सके । करुण रागिनी, उपयोग की जिस भूमि पर है वहाँ यह प्रत्येक श्रोता के हृदय में एक करुण भाव जागृत करके ही सफल हो सकेगी, हर्ष या उल्लास का नहीं । व्यक्ति के सत्कार, परिस्थिति, मानसिक स्थिति आदि के अनुसार उसकी भाषाओं में न्यूनाधिक्य हो सकता है, परन्तु उसके उपयोग में इतनी विभिन्नता सम्भव नहीं कि एक में हर्ष का संचार हो और दूसरे में विषाद का उद्रेक ।

जीवन को गति देने के दो ही प्रकार हैं—एक तो बाह्य अनुशासनों का सहारा देकर उसे चलाना और दूसरे अन्तर्जगत् में ऐसी स्फूर्ति उत्पन्न कर देना जिससे सामंजस्यपूर्ण गतिशीलता अनिवार्य हो उठे । अन्तर्जगत् में प्रेरणा बननेवाले साधनों की स्थिति, उस बीज के समान है जिसे मिट्टी को, रंग-रूप-रस आदि में व्यक्त होने की सुविधा देने के लिये स्वयं उसके अन्धकार में समाकर दृष्टि से ओझल हो जाना पड़ता है ।

विधि-निषेध की दृष्टि से महान् से महान् कलाकार के पास उतना भी अधिकार नहीं जितना चौराहे पर खड़े सिपाहों को प्राप्त है । वह न किसी को आदेश दे सकता है और न उपदेश, और यदि देने की नासमझी करता भी है तो दूसरे उसे न मानकर समझदारी का परिचय देने हैं । वास्तव में कलाकार तो जीवन का ऐसा सगी है जो अपनी आत्मक-हानि में, हृदय हृदय की कथा कहता है और स्वयं चतकर पग पग के लिये पथ प्रकाश करता है । वह बौद्धिक परिणाम नहीं किन्तु अपनी अनुभूति दूसरे तक पहुँचाता है और वह भी एक विशेषता के साथ । काँटा घुमाकर नाटे, का मान तो संसार दे ही देगा, परन्तु कलाकार बिना काँटा घुमाने की पीड़ा दिये हुए ही उसकी वस्तु की तीव्र मधुर अनुभूति दूसरे तक पहुँचाने में समर्थ है । अपने अनुभवों

की गहराई में, वह जिस जीवन-सत्य से साक्षात् करता है उसे दूसरे के लिये संवेदनीय बना कर कहता चलता है 'यह सौन्दर्य तुम्हारा ही तो है पर मैंने आज देख पाया'। जीवन को स्पर्श करने का उसका ढंग ऐसा है कि हम उसके सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, हार-जीत सब कुछ प्रसन्नतापूर्वक ही स्वीकार करते हैं—दूसरे शब्दों में हम बिना सोजने का कष्ट उठाये हुए ही कलाकार के सत्य में अपने आपको पाते हैं। दूसरे के बौद्धिक निष्कर्ष तो हम अपने भीतर उनका प्रतिबिम्ब सोजने पर बाध्य करते हैं परन्तु अनुभूति हमारे हृदय से सादारण्य करके प्राप्ति का सुख देती है।

उपदेशों के विपरीत अर्थ लगाये जा सकते हैं, नीति के अनुवाद भ्रान्त हो सकते हैं, परन्तु सच्चे कलाकार की सौन्दर्य-नृष्टि का अपरिचित रह जाना सम्भव है, बदल जाना सम्भव नहीं। मनु की जीवन स्मृतियों में अनर्थ की सम्भावना है पर धार्मिक का जीवन-दर्शन श्रेष्ठहीन ही रहेगा। इसी से कलाकारों के मठ नहीं निर्मित हुए, महन्त नहीं प्रतिष्ठित हुए, साम्राज्य नहीं स्थापित हुए और सम्राट नहीं अभिरिक्त हुए। कवि या कलाकार अपनी सामान्यता में ही सबका ऐसा अपना बन गया कि समय समय पर धर्म, नीति आदि को, जीवन के निकट पहुँचाने के लिए उससे परिचय पत्र मागना पड़ा।

कवि में दार्शनिक को खोजना बहुत साधारण हो गया है। जहाँ तक सत्य के मूल रूप का सम्बन्ध है वे दोनों एक दूसरे के अधिक निकट हैं अवश्य, पर साधन और प्रयोग की दृष्टि से उनका एक होना सहज नहीं। दार्शनिक बुद्धि के निम्न-स्तर से अपनी खोज आरम्भ करके उसे मूढम बिन्दु तक पहुँचा कर छान्दो हो जाता है—उसकी सफलता यही है कि सूक्ष्म सत्य के उस रूप तक पहुँचने के लिये वही बौद्धिक दिशा सम्भव रहे। अन्तर्जगत् का साधन वैभव परलभ कर सत्य का मूल्य ओझने का उसे अवकाश नहीं, भाव की गहराई में डूबकर जीवन को चाह दे देने का उसे अधिकार नहीं। वह तो चिन्तन-जगत् का अधिकारी है। बुद्धि, अन्तर का बोध कराकर एका का निर्देश करती है और हृदय एका की अनुभूति देकर अन्तर की ओर सचेत

करता है। परिणामतः चिन्तन की विभिन्न रेखाओं का समानान्तर रहना अनिवार्य हो जाता है। सांख्य जिन रेखा पर बढ़कर छद्म की प्राप्ति करता है वह वेदान्त को अंगीकृत न होगी और वेदान्त जिस त्रम से घटकर सत्य तक पहुँचता है उसे योग स्वीकार न कर सकेगा।

काव्य में बुद्धि हृदय से अनुधातित रहकर ही सन्नियता पाती है इसी से उसका दर्शन न बौद्धिक तर्कप्रणाली है और न सूक्ष्म बिन्दु तक पहुँचाने वाली विशेष विचार-शक्ति। वह तो जीवन को, चेतना और अनुभूति के समस्त धर्म के साथ, स्वीकार करती है। अतः कवि का दर्शन, जीवन के प्रति उसकी आस्था का दूसरा नाम है। दर्शन में, चेतना के प्रति नास्तिक की स्थिति भी सम्भव है, परन्तु काव्य में अनुभूति के प्रति अविश्वासी कवि की स्थिति असम्भव ही रहेगी। जीवन के अस्तित्व को शून्य प्रमाणित करके भी दार्शनिक बुद्धि के सूक्ष्म बिन्दु पर विधाम कर सकता है परन्तु यह अस्वीकृति कवि के अस्तित्व को डाल से टूटे पत्ते की स्थिति दे देती है।

दोनों का मूल अन्तर न जानकर ही हम किसी की कलाकार में बुद्धि की एक हथ, एक दिशावाली रेखा ढूँढने का प्रयास करते हैं और असफल होने पर खोस उठते हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि दर्शन और कवि की स्थिति में विरोध है। कोई भी कलाकार दर्शन ही क्या धर्म, नीति आदि का विशेषज्ञ होने के कारण ही कला-सृजन के उपयुक्त या अनुपयुक्त नहीं ठहरता। यह समस्या तो तब उत्पन्न होती है जब वह अपनी कला को ज्ञानविशेष का एकांगी, शुष्क और बौद्धिक अनुवाद मान बनाने लगता है।

कवि का वेदान्त-ज्ञान, जब अनुभूतिभी से रूप, कल्पना से रंग और भावजगत् से सौन्दर्य पाकर साकार होता है तब उसके मध्य में जीवन का स्पन्दन रहेगा, बुद्धि की तर्क शृंखला नहीं। ऐसी स्थिति में उसका पूर्ण परिचय न अर्द्ध दे सकेगा और न विशिष्टाईत। यदि कवि ने हतनी सजीव साकारता के बिना ही अपने ज्ञान को कला के सिंहासन पर अभिषिक्त कर दिया तो वह विकलांग मूर्ति के समान न निरा देवता रहता है और न कोरा पाषाण। कला, जीवन की विविधता समेटती हुई आगे बढ़ती है, अतः सम्पूर्ण जीवन

को गला-पिघलाकर तर्कगूत्र में परिणत कर लेना उसका लक्ष्य नहीं हो सकता ।

दृष्टि और समष्टि में समान रूप से व्याप्त जीवन के हर्ष-शोक, आशा-निराशा, सुख-दुख आदि की संख्यातीत विविधता को स्वीकृति देने ही के लिए कला-सृजन होता है । अतः कलाकार के जीवन-दर्शन में हम उसका जीवनव्यापी दृष्टिकोण मात्र पा सकते हैं । जो सम-विषम परिस्थितियों की भीड़ में नहीं मिला जाता, सरल-कठिन सघर्षों के भेत्ते में नहीं छोड़ा जाता और मधुर-बटु सुख-दुखों की छाया में नहीं छिप जाता वही व्यापक दृष्टि-कोण कवि का दर्शन कहा जायेगा । परन्तु ज्ञान-शंख और काव्यजगत् के दर्शन में उतना ही अन्तर रहेगा जितना दिशा की शून्य सीधी रेखा और अनन्त रंग-रूपों से बने हुए आकाश में मिलता है ।

काव्य की परिधि में बाह्य और अन्तर्जगत् दोनों आ जाने के कारण अभिव्यक्ति के स्वरूप भ्रमबदों को जन्म देते रहे हैं । केवल बाह्य जगत् की यथार्थता काव्य का लक्ष्य रहे अथवा उन यथार्थ के साथ सम्भाव्य यथार्थ अर्थात् आदर्श भी व्यक्त हो यह प्रश्न भी उपेक्षणीय नहीं । यथार्थ और आदर्श दोनों को यदि धरम-सीमा पर रखकर देखा जाये तो एक प्रत्यक्ष इतिवृत्त में विलीन जायेगा और दूसरा अतम्मय कल्पनाओं में बध जायेगा । ऐसे यथार्थ और आदर्श की स्थिति जीवन में ही कठिन हो जाती है कि उनकी काव्य-स्थिति के सम्बन्ध में क्या कहा जावे ।

काव्य में मोक्षर जगत् तो सहज स्वीकृति पा लेता है, पर स्थूल जगत् में व्याप्त चेतन और प्रत्यक्ष सौन्दर्य में अन्नाहित सामञ्जस्य की स्थिति बहुत सहज नहीं ।

हमारे प्राचीन काव्य ने बौद्धिक तर्कवाद से दूर उन आन्तानुभूत ज्ञान की स्वीकृति दी है जो इन्द्रियजन्य ज्ञान का अनायास पर उमने अधिष्ठानिष्ठ और पूर्ण माना गया है । इस ज्ञान के आधार सत्य की तुलना, उस आकाश से की जा सकती है जो घट्टन-शक्ति की अनुपस्थिति में अपना सत्य गुण नहीं व्यक्त करता । इसी कारण ऐसे ज्ञान की उपलब्धि आत्मा के उ

कला है। शिवालय, विष्णु की विभिन्न रूपाओं का समानान्तर रहना अतिव्यापक हो जाता है। शास्त्र त्रिम रूपा पर बहुरूप लक्षण की प्राप्ति करना है वह वेदान्त को अंगीकार न होगी और वेदान्त त्रिम त्रय में बहुरूप मध्य तक पहुँचता है उसे योग स्वीकार न कर लेगा।

साधना में बुद्धि हृदय में अनुगातिन रहकर ही गतिमाना पायी है इसी में उगता दर्शन न बौद्धिक तार्किकताओं है और न गूढम बिन्दु तक पहुँचाने वाली त्रिमो विचार-प्रणालि। वह तो जीवन को, चेतना और अनुभूति के समान धर्म के साथ, स्वीकार करती है। अतः कवि वा दर्शन, जीवन के प्रति उगरी भाषा का दूसरा नाम है। दर्शन में, चेतना के प्रति नास्तिक की स्थिति भी सम्भव है, परन्तु काव्य में अनुभूति के प्रति अविश्वसनीय कवि की स्थिति अगम्य ही रहेगी। जीवन के अस्तित्व को शून्य प्रमाणित करके भी दार्शनिक बुद्धि के गूढम बिन्दु पर विचार कर सकता है परन्तु वह अस्वीकृति कवि के अस्तित्व को डाल से टूटे घटे की स्थिति दे देती है।

दोनों का मूल अन्तर न जानकर ही हम किसी की कलाकार में बुद्धि की एक रूप, एक दिशावाली रूपा दृढ़ता का प्रमाण करते हैं और असफल होने पर शीघ्र उठते हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि दर्शन और कवि की स्थिति में विरोध है। कोई भी कलाकार दर्शन ही क्या धर्म, नीति आदि का विशेषज्ञ होने के कारण ही कला-सृजन के उपयुक्त या अनुपयुक्त नहीं ठहरता। यह समस्या तो तब उत्पन्न होती है जब वह अपनी कला को ज्ञानविशेष का एकांगी, शुष्क और बौद्धिक अनुवाद मान बनाने लगता है।

कवि का वेदान्त-ज्ञान, जब अनुभूतियों से रूप, कल्पना से रंग और भावजन्य से सौन्दर्य पाकर साकार होता है तब उसके सत्य में जीवन का स्पन्दन रहेगा, बुद्धि की तर्क शृंखला नहीं। ऐसी स्थिति में उसका पूर्ण परिचय न अद्वैत दे सकेगा और न विशिष्टाद्वैत। यदि कवि ने इतनी सजीव साकारता के बिना ही अपने ज्ञान को कला के सिंहासन पर अभिव्यक्त कर दिया तो वह विकलांग मूर्ति के समान न निरा देवता रहता है और न कोरा पाषाण। कला, जीवन की विविधता समेटती हुई आगे बढ़ती है, अतः सम्पूर्ण जीवन

को गला-पिघलाकर तर्कमूत्र में परिणत कर लेना उसका लक्ष्य नहीं हो सकता ।

व्यष्टि और समष्टि में समान रूप में व्याप्त जीवन के हर्ष-शोक, आशा-निराशा, सुख-दुख आदि की सरपातीत विविधता को स्वीकृति देने ही के लिए कला-सृजन होता है । अतः कलाकार के जीवन-दर्शन में हम उसका जीवनव्यापी दृष्टिकोण मात्र पा सकते हैं । जो सम-विषम परिस्थितियों को भीड़ में नहीं मिल जाता, सरल-कठिन सधियों के मेल में नहीं खो जाता और सधुर-कटु सुख-दुखों की छाया में नहीं छिप जाता वही व्यापक दृष्टिकोण कवि का दर्शन कहा जायेगा । परन्तु ज्ञान-क्षेत्र और काव्यजगत् में दर्शन में उनका ही अन्तर रहेगा जितना दिशा की शून्य सीधी रेखा और अन्तर-रूपों से बने हुए आकाश में मिलता है ।

काव्य की परिधि में बाह्य और अन्तर्जगत् दोनों आ जाने के कारण अभिव्यक्ति के स्वरूप मतभेदों को जन्म देते रहे हैं । केवल बाह्य जगत् की यथायथा काव्य का लक्ष्य रहे अथवा उस यथार्थ के साथ सम्भाव्य यथा-अर्थान् आदर्श भी व्यक्त हो यह प्रश्न भी उपेक्षणीय नहीं । यथार्थ और आदर्श दोनों को यदि चरम-भीमा पर रखकर देखा जाये तो एक प्रत्यक्ष द्विबृत्त में विलस जायेगा और दूसरा अमम्मव बल्पनाओं में बध जायगा ऐसे यथार्थ और आदर्श की स्थिति जीवन में ही कठिन हो जाती है कि उनकी काव्य-स्थिति के सम्बन्ध में क्या कहा जावे ।

काव्य में गोचर जगत् तो सहज स्वीकृति पा लेता है, पर स्थूल जगत् में व्याप्त सैतन और प्रत्यक्ष सौन्दर्य में अन्तर्हित सामञ्जस्य की स्थिति बहुत सहज नहीं ।

✓ हमारे प्राचीन काव्य ने बौद्धिक तर्कवाद से दूर उन आन्धानुमूल ज्ञान की स्वीकृति दी है जो इन्द्रियजन्य ज्ञान का अनायास पर 'उममे अधि' निश्चय और पूर्ण माना गया है । इस ज्ञान के आधार सत्य की तुलना, उ आकाश से की जा सकती है जो दृष्ट-शक्ति की अनुपस्थिति में अपना रास नहीं व्यक्त करता । इसी कारण ऐसे ज्ञान की उपलब्धि आत्मा के उ

मंस्वार पर निर्भर है, जो सामान्य गन्ध को विशिष्ट गीमा में ग्रहण करने की शक्ति भी देता है और उस गीमिन ज्ञानानुभूति को जीवन की व्यापक पोष्टिक देने वाला मौन्दर्पवाच भी महज कर देता है ।

जैसे रस, रस, गन्ध आदि की स्थिति होने पर भी कारण के अनुरूप या अपूर्णता में, कभी उनका ग्रहण सम्भव नहीं होता और कभी वे ग्रहण किये जाते हैं, वैसे ही, सामान्य ज्ञान, आत्मा के मंस्वार की शक्ति और उससे उत्पन्न ग्रहण-शक्ति की गीमा पर निर्भर रहेगा । यदि कोई या मनीषी कहने वाले दुग के सामने यही निश्चित तर्कक्रम से स्वयं प्रकट रहा ।

साय इम ज्ञान का वैसा हो अज्ञात सम्बन्ध और अव्यक्त स्पर्श है जैसा प्रकृति ने प्रत्यक्ष और प्रशान्त निस्तब्धता के माय आधी के अव्यक्त पूर्वाभाम का ले सकता है, जो स्थितिहीनता में भी स्थिति रखता है। इसके अव्यक्त स्पर्श का अनुभव कर अनेक बार मनुष्य प्रत्यक्ष प्रमाण, बौद्धिक निष्कर्ष और अनुभूत परिस्थितियों को सोमाएं पार कर लेने के लिये विवश हो उठता है। बूँदों और बिजानबादी के पास भी ऐसा बहुत कुछ बच जाता है जो कार्य कारण में नहीं बाँधा जा सकता, स्थूलता के पुरान्त उपाय के पास भी बहुत कुछ छोप रह जाता है जो उपयोग की कमीटी पर नहीं परता जा सकता और यदि केवल मर्यादा ही महत्त्व रखती हो तो समार के सब कोनों में ऐसे व्यक्तियों को स्थिति सम्भव हो सकी है जो आत्मानुभूत ज्ञान का अस्तित्व मिट कर रहे।

अगोचर जगत् से सम्बन्ध रखनेवाली रहस्यानुभूति की स्थिति भी ऐसी ही है। जहाँ तक अनुभूति का प्रश्न है वह तो स्थूल और गोचर जगत् में भी सामान्य नहीं। प्रत्येक व्यक्ति की दृष्टि फूल को फूल ग्रहण कर ले या स्वाभाविक है, परन्तु सबके अन्तर्जगत् में अनुभूति एक ही स्थिति नहीं पड़ती। अपने मस्तिष्क, रसि, संवेदनशीलता के अनुसार कोई फूल में तादात्म्य प्राप्त करके भाव-तन्मय हो मकेगा और कोई उदासीन दर्शक मान रा जायेगा। स्थूल जगत् के सम्पर्क का रूप भी अनुभूति की मात्रा निश्चित क सकता है। जिसने अगारे उठा उठा कर हाथ को बूँदों कर लिया है उमर उगलिया अगारे पर पड़कर भी जलने की तीव्र अनुभूति नहीं उत्पन्न करेगी

पर जिसका हाथ अचानक अगारे पर पड़ गया है उसे छाने का तीव्र समानुभव करना पड़ेगा। जिसने बाँटो पर सेटने का अभ्यास कर लिया। उसके धरीर में अनेक बाँटो का स्पर्श तीव्र ध्वजा नहीं उत्पन्न करता, पर जलने-बलने अचानक बाँटो पर पैर रख देता है उसके लिये एक बाँटो ही तीव्र-दुःखानुभूति का कारण बन जाता है।

परन्तु इन सब लक्ष्य अनुभूतियों के पीछे हमारे अन्तर्जगत् में एक ऐसा ध्यापक, सम्बन्ध और संवेदनात्मक धरातल भी है जिस पर गहरी विविध

। स्वर पर निर्भर है, जो सामान्य गाय को विविध गीतों में प्रयुक्त करने की क्षमता भी देता है और उस गीतित ज्ञानानुभूति को जीवन की व्यापक गतिविधि देने वाला गौण्यबोध भी गायन कर देता है ।

जैसे जल, रंग, गन्ध आदि की स्थिति होने पर भी कारण के अभाव में अपूर्णता में, वही उनका प्रयुक्त सम्भव नहीं होता और वही वे अपूर्ण रहण विभे जाते हैं, वैसे ही, आत्मानुभूत ज्ञान, आत्मा के स्वर पर भी मात्र और उसमें उत्पन्न प्रयुक्त-क्षमता की गीतों पर निर्भर रहेगा । यदि को प्रयुक्त में मनीषी करने वाले युग के सामने यही निश्चित तर्कजम में स्वतंत्र ज्ञान पड़ा ।

यह ज्ञान व्यक्ति-सामान्य नहीं, यह बहुरूप हम उसकी उपेक्षा नहीं कर सकते, क्योंकि हमारा प्रत्यक्ष जगत्-सम्बन्धी ज्ञान भी इतना सामान्य नहीं । वैज्ञानिक का भौतिक ज्ञान ही नहीं नित्य का व्यवहार-ज्ञान भी व्यक्ति की उपेक्षा नहीं छोड़ता । व्यक्तिगत रसि, स्वर, पूर्वाजित ज्ञान, ज्ञान-तरणों की पूर्णता अपूर्णता अभाव आदि धिक्कर स्पष्ट जगत् के ज्ञान को इतनी विविधता देने रहते हैं कि हम व्यक्ति के महत्व में ज्ञान का महत्व निश्चित करने पर बाध्य हो जाते हैं । जो ऊँचा सुनता है या जो स्टेपेस्कोपी सहायता से फेंकड़ों का अस्पष्ट शब्द भाव सुनता है वे दोनों ही हमारे सामाजिक के सम्बन्ध में कोई निष्कर्ष नहीं दे सकते । पर जो आह्वान ध्वनि से लेकर भेष के वर्जन तक सब स्वर सुनने की क्षमता भी उत्पन्न है और विभिन्न स्वरों में सामाजिक राने की गाथना भी कर चुका है वह इस दिशा में हमारा प्रमाण है ।

समाज, नीति आदि से सम्बन्ध रखने वाले इन्द्रियानुभूत ज्ञान ही न कि सूक्ष्म बौद्धिक ज्ञान के सम्बन्ध में भी अपने से अधिक पूर्ण व्यक्तियों का प्रमाण मानकर मनुष्य विकास करता आया है । अतः अध्यात्म के सम्बन्ध में ही ऐसा तर्कवाद क्यों महत्व रखेंगा ? फिर यह आत्मानुभूत ज्ञान इतना विविध भी नहीं जितना समझा जाता है । साधारणतः ती प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी अंश तक इसका उपयोग करता रहता है । प्रत्यक्ष ज्ञान वे

पाप इम ज्ञान का वैसा ही अज्ञात सम्बन्ध और अव्यक्त स्पर्श है जैसा प्रकृति की प्रत्यक्ष और प्रदान्त निस्तब्धता के साथ आधी के अव्यक्त पूर्वाभास का हो सकता है, जो स्थितिहीनता में भी स्थिति रखता है। इसके अव्यक्त स्पर्श का अनुभव कर अनेक बार मनुष्य प्रत्यक्ष प्रमाण, बौद्धिक निष्कर्ष और अनुभूत परिस्थितियों को सीमाएं पार कर लेने के लिये विवश हो उठता है।

कठोर विज्ञानवादी के पाग भी ऐसा बहुत कुछ बच जाता है जो कार्य-कारण से नहीं बांधा जा सकता, स्थूलता के एकान्त उपयोग के पास भी बहुत कुछ घोप रह जाता है जो उपयोग की कमीटी पर नहीं परता जा सकता। और यदि केवल मर्यादा ही महत्त्व रखती हो तो संसार के सब कोनों में ऐसे व्यक्तियों की स्थिति सम्भव हो सके हैं जो आत्मानुभूत ज्ञान का अस्तित्व मिट्ट कर रहे।

अगोचर जगत् से सम्बन्ध रखनेवाली रहस्यानुभूति की स्थिति भी ऐसी ही है। जहां तक अनुभूति का प्रश्न है वह तो स्थूल और गोचर जगत् में भी सामान्य नहीं। प्रत्येक व्यक्ति की दृष्टि फूल को फूल ग्रहण कर ले या स्वाभाविक है, परन्तु सबके अन्तर्जगत् में अनुभूति एक ही स्थिति नहीं प सकती। अपने मस्कार, रसि, संवेदनशीलता के अनुसार कोई फूल में सादा तम्य प्राप्त करके भाव-तन्मय हो सकेगा और कोई उदासीन दर्शक मात्र रह जायेगा। स्थूल जगत् के सम्पर्क का रूप भी अनुभूति की मात्रा निर्दिष्ट कर सकता है। जिसने अगारे उठा उठा कर हाथ को कठोर कर लिया है उसकी उगलियां अगारे पर पटक कर भी जलने की तीव्र अनुभूति नहीं उत्पन्न करेंगी।

पर जिसका हाथ अचानक अगारे पर पड़ गया है उसे छाले का तीव्र भर्मानुभव करना पड़ेगा। जिसने बाँटो पर लेटने का अभ्यास कर लिया है उसके शरीर में अनेक बाँटो का स्पर्श तीव्र व्यथा नहीं उत्पन्न करता, पर जे चटने-खलते अचानक बाँटे पर पंर रख देता है उसके लिये एक बाँटा ही तीव्र-दुःखानुभूति का कारण बन जाता है।

परन्तु इन सब सख्ख, अनुभूतियों के पीछे हमारे अन्तर्जगत् में ऐसा व्यापक, अखण्ड और सवेदनात्मक धरातल भी है जिस पर सारी विविध

ता. ०६९ चरणा ह । काव्य इसा का स्पष्टकर संवेदनीयता प्राप्ति का
 ? । इसी कारण जिन सुख-दुखों की प्रत्यक्ष स्थिति भी हमें तोत्र अनुभू
 हो देता उन्हीं की काव्य-स्थिति से सादात् कर हम अस्थिर हो उठते हैं
 व्यापक अर्थ में तो यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक सौन्दर्य या प्रत्ये
 सामंजस्य की अनुभूति भी रहस्यानुभूति है । यदि एक सौन्दर्य-अदा या सा
 स्त-खण्ड हमारे सामने किसी व्यापक सौन्दर्य या अखण्ड सामंजस्य का
 र नहीं खोल देता तो हमारे अन्तर्जगत् का उल्लास से आन्दोलित हो
 ठना सम्भव नहीं । इतना ही नहीं किसी कर्म के सौन्दर्य और सामंजस्य की
 अनुभूति भी रहस्यात्मक हो सकती है, इसी से मनुष्य ऐसे कर्मों को आलोच
 म्भ घना बनाकर जीवन-मय में स्थापित करता रहा है ।
 सौन्दर्य अपने समर्थन के लिये जिन सामंजस्य की ओर इंगित करता है
 रूपता भी अपने विरोध के लिये उसी की ओर संकेत करता है, पर दोनों
 सकेत में अन्तर है । प्रत्येक सौन्दर्य-खंड अखण्ड सौन्दर्य से जुड़ा है और इन
 ह हमारे हृदयगत सौन्दर्य-बोध से भी जुड़ा है, पर विरूप, व्यापक सार्थ-
 त्व का विरोधी होने के कारण हमारे भीतर कोई स्वभावगत स्थिति ना
 सि रखता । सौन्दर्य से हमारा वह परिचय है जो अनन्त जलराशि में एक
 हर का दूसरी लहर से होता है पर विरूपता से हमारा वैसा मिलन ।
 सा पानी में फेंके हुए पत्थर और उससे उठी लहर में सहज है । सौन्दर्य
 पर परिचय में भी नवीन है पर विरूपता अति परिचय में नितान्त साध-
 -न जाती है: इसी से सौन्दर्य की रहस्यानुभूति ही, अन्तहीन काव्य-सा

अनुसार ही मोड़ने-फोड़ने का कार्य करने चाने हैं, अब वहीं चट्टान पर सुतार की हथौड़ी का हन्का स्पष्ट होता है और वही राग के ढेर पर मोहार के हथौड़े की सहरी छोट । क्या मन्त्रिनि, क्या आदर्श, सबम हमारी शक्तियों का विशिष्ट जैसा प्रयोग है, इन्हीं में जो टूट जाता है वह हमारी ही भावों की विचित्रिणी बनने के लिए वायुमण्डल में महराने लगता है और जो हमारे प्रहार में नहीं शिक्करता, वह विषम तथा विरक्त बनकर हमारे ही पंखों की आहत और गति को कुण्ठित करना रहता है । निर्माण की दिशा में किसी सामूहिक लक्ष्य के अभाव में व्यक्तिगत प्रयाग, अराजकता के आतंरिक उदाहरणों में अधिक महत्व नहीं पाने ।

किसी भी उत्थानशील समाज और उसके प्रबुद्ध कलाकारों में जो सन्निय महयोग और परस्पर पूरक आदान-प्रदान स्वाभाविक है वह हमारे समाज के लिए बलवर्धनीय बन गया । समाज को एक बिन्दु पर अभ्यस्तता और कला-कार की उदयशील गति-विह्वलता में उसे एक प्रवार में असामाजिक प्राणी की स्थिति में डाल दिया है ।

प्रत्येक मछले कलाकार की अनुभूति, प्रत्यक्ष मृत्यु ही नहीं अप्रत्यक्ष मृत्यु का भी स्पर्श करती है, उमका स्वप्न, वर्तमान ही नहीं अनागत को भी स्पर्शता में घाघता है और उमकी भावना यथार्थ ही नहीं सम्भाव्य यथार्थ को भी मूर्तिमत्ता देती है । परन्तु इन सबको, व्यष्टिगत और अनेक-रूप अभिव्यक्तिदा दूसरों तक पहुँचकर ही तो जीवन की समष्टिगत एकता का परिचय देने में समर्थ है ।

कलाकार के निर्माण में जीवन के निर्माण का लक्ष्य छिपा रहता है, जिसकी स्वीकृति के लिये जीवन की विविधता आवश्यक रहेगी । जब समाज उमके किसी भी स्वप्न का मृत्यु नहीं आकता, किसी भी आदर्श को जीवन की बमौटी पर परखना स्वीकार नहीं करता, सब साधारण कलाकार तो सब कुछ धूल में फेंक कर रुठे बालक के समान शोभ प्रकट कर देता है और महान्, समाज की उपस्थिति ही मुलाने लगता है । हमारी कला के क्षेत्र में जो एक अच्छा-खल गति है उमके मूल में निर्माण की सन्तुलित सन्नियता

अधिक, वियश दोष की अस्थिरता ही मिलेगी ।

एक ओर समाज पक्षापात से पीड़ित है और दूसरी ओर धर्म विशिष्ट । क चल ही नहीं सकता, दूसरा वृत्त के भीतर वृत्त बनाता हुआ एक पंर से िड़ लगा रहा है । गम और ठण्डे जल से भरे पात्रों की निश्चलता जैसे उनका पमान एकता कर देती है उमी प्रकार हमारे धर्म और समाज की सापेक्ष त्वति उन्हें एक-सी निर्जीवता देती रहती है । आज तो बाह्य और आन्तरिक सृष्टि में धर्म को ऐसी स्थिति में पहुँचा दिया है जहा रुद्धिप्रस्त रहने का मृ मिष्टा और रोतिकालीन प्रवृत्तियों की चंचल-जीवा ही गतिशीलता है । तना ही नहीं, इस स्वर्ग के सहहर का द्विमान-अर्थ बन गया है । कलाकार दि धर्म के क्षेत्र में प्रवेश चाहे तो उसे हाथी पर गगा-यमुनी काम की जम्हारी । जात्रा होगा जो उसकी निपन्नता में सम्भव नहीं । २१५ धर्म

१६ हमारी सस्कृति ने धर्म और कला का ऐसा ग्रन्थिबन्धन किया-या तो जीवन से अधिक मृत्यु में दुँड हाता गया । क्या काव्य, क्या मूर्ति, क्या वर्ष सबकी यथार्थ रेखाओं और स्थूल रूपों में अध्यात्म ने सूक्ष्म आदर्श की प्रतिष्ठा की । परन्तु जब ध्वस के असंख्य स्तरो के नीचे दबकर वह ध्यात्म-स्पन्दन एक गया सब धर्म के निर्जीव काल में हमें मृत्यु का ठा मर्श मिलने लगा । २१६ मृत्यु

शरीर को चलानेवाली चेतना का अशरीरी गमन तो प्रत्यक्ष नहीं होता, परन्तु उसके अभाव में अचल शरीर का गल-गल कर नष्ट होना त्वक्ष भी रहेगा और वातावरण को दूषित भी करेगा । समन्वयात्मक ध्यात्म कब लो गया यह तो हम न जान सके परन्तु व्यावहारिक धर्म ही विविध विकृतियाँ हमारे जीवन के साथ रही। ऐसी स्थिति में काव्य या कलाओं की स्वस्थ गतिशीलता असंभव हो उठी । निर्माणयुग में तो कलासृष्टि अमृत की सजीवनी देकर ही सफल हो सकती थी वही,

५ में मदिरा की उत्तेजनमान बनकर विकासशील मानी गई ।

५ का उपयोग तो स्वयं को भुलाने के लिये है, स्मरण करने के लिये और जीवन का सृजनात्मक विकास अपनेपन की चेतना में ही संभव

हैं। परिणामतः कलाएँ और काव्य जमे-जमे हममें विक्षिप्त की चेष्टायें करने लगे वैसे-वैसे हम विकासपथ पर लक्ष्यग्रस्त होते गये।

जागरण के प्रथम चरण में हमारी राष्ट्रीयता ने अपनी व्यापकता के लिये जिम अध्यात्म का आह्वान किया, काव्य ने सौन्दर्य-काया में उमी की प्राण-प्रतिष्ठा करदी। कवि ने धर्म के धरातल पर किसी विकृत हृदि को स्वीकार नहीं किया परन्तु सक्रिय विरोध के साधनों का अभाव-ना रहा।

कुछ ने सम्प्रदायों की संकीर्णता से बाहर रहकर, आदर्श-चरित्रों को नवीन रूपरेखा में ढाला और इस प्रकार पुरानी मासृतिक परम्परा और नई लोक-भावना का समन्वय उपस्थित किया। कुछ ने धर्म के मूलगत अध्यात्म को, व्यक्तिगत साधना के उम धरातल पर स्थापित कर दिया जहाँ वह हमारे अनेकरूप जीवन की, अरुण एकता का आधार भी बन सका और सौन्दर्य की विविधता की व्यापक पीछिका भी।

कुछ ने उसे स्वीकार ही नहीं किया, परन्तु उसके स्थान में किसी अन्य व्यापक आदर्श की प्रतिष्ठा न होने के कारण यह अस्वीकृति एक उच्छृंखल विरोध-प्रदर्शन मात्र रह गई। नास्तिकता उमी दशा में मूजनात्मक विकास दे सकती है जब ईश्वरता में अधिक सजीव और सामञ्जस्यपूर्ण आदर्श जीवन के साथ चलता रहे। जहाँ केवल अविश्वास ही उमका सम्बल है वहाँ वह जीवन के प्रति भी अनास्था उत्पन्न किये बिना नहीं रहती। और जीवन के प्रति अविश्वासी व्यक्ति का, सृजन के प्रति भी अनास्थावान हो जाना अनिवार्य है। ऐसी स्थिति का अन्तिम और अवश्यम्भावी परिणाम, जीवन के प्रति व्यर्थता की भावना और निराशा ही होती है। इसीसे सच्चा कवि या कलाकार किसी न किसी आदर्श के प्रति आस्था-वान रहेगा ही।

धर्म ने यदि अपने आपको कूप के समान पखरो में बाध दिया है तो राजनीति ने धरती के ताल पर पड़े पानी के में विभषण होकर गाँव को विमरस डाला है।

आदर्श आलोचना

पिछले पच्चीस वर्षों में विश्व के राजनीतिक जीवन में जो-जो आदर्श उपस्थित किये गये उनमें से एक को भी अभी तक पूर्ण विकास का अवसर नहीं मिल सका। पुराना पर स्वार्थी साम्राज्यवाद, नवीन पर क्रूर नात्सीरम और फासिज्म, अध्यात्म-प्रधान गांधीवाद, जनसत्तात्मक साम्यवाद, समाजवाद आदि सब रेल के तीसरे दर्जे के छोटे डब्बे में ठनाठस भरे उन यात्रियों जैसे हो रहे हैं, जो एक दूसरे के सिर पर सवार होकर ही खड़े रहने का अवकाश और लड़ने-अगड़ने में ही मनोरंजन के साधन पा सकते हैं। इनमें से मानव-कल्याण पर केन्द्रित विचारधाराओं को भी शताब्दियों तो दूर रही अभी विकास के लिए पचास वर्ष भी नहीं मिल सके। एक की सीमाएँ स्पष्ट हुए बिना ही दूसरी अपने लिए स्थान बनाने लगती हैं और इसी प्रकार विश्व का राजनीतिक जीवन परस्पर-विरोधी शक्तियों का मेला मात्र रह गया है।

हमारा राजनीतिक वातावरण भी कुछ कम विषम और छिन्न-भिन्न नहीं। वास्तव में हमारी राष्ट्रीयता जनता की पुनी होने के साथ-साथ धर्म और पूजा की बोध्यपुनी भी तो है, अतः दोनों ओर के गुण-अवगुण उभे उत्तराधिकार में मिलते रहे हैं। उमकी छाया में धार्मिक विरोध भी पनपने और धार्मिक धर्मपथ में उत्पन्न बौद्धिक मतभेद भी बिनाग पाने रहे।

इसके अतिरिक्त हमारी राष्ट्रीयता की गतिशीलता के लिए आध्यात्मिक धरातल पर भी एक नैतिक-अगठन अपेक्षित था और नैतिक-अगठन को कुछ अपनी सीमाएँ रहेंगी ही। मेला में सब ओर और तय के बिनामी ही रहें लेंगी सम्भावना गल्प नहीं हो सकती। पर जो व्यक्ति स्वयं या पराये के लिए, विषयना या अन्तर की प्रेरणा से, यथायं की अगुविषा या मानस की केतना के कारण, मेला की परिधि में आ लें उन सभी को बाह्य-वेगभूग और गति की दृष्टि से एक-सा रहना पड़ेगा। इस प्रकार नैतिक-अगठन में बाध एकना का जो अर्थ है वह आत्मनिष्ठ और यह दृष्टि हमारी राष्ट्रीयता में भी अन्तर्गत है, नहीं।

पूद मरानी रहती हैं। विषमताओं से उत्पन्न और गंभीरता में परिणत स्वभाव को इस युग की विशेषताओं ने ऐसा रूप दे दिया है जिसमें पुराना स्वार्थ धनीभूत है और नवीन ज्ञान धनीभूत।

१) विज्ञान के परम विक्रम ने हमारी आधुनिकता को एकांगी बुद्धिवाद में इस तरह सीमित किया कि आज जीवन के किसी भी आदर्श को उसके निरपेक्ष सत्य के लिए स्वीकार करना कठिन है। परिणामतः एक निस्सार शैक्षिक उल्लापन ही हमारे हृदय की सम्पूर्ण सरल भावनाओं में अधिक प्रारवती जान पड़े तो आश्चर्य ही क्या है। इस ज्ञान-व्यवसायी युग में बिना शैक्षिक पूजा के ही सिद्धान्तों का व्यापार सहज हो गया है, अतः न अब हमें किसी विश्वास का खरापन जाचने के लिए अपने जीवन को कसौटी बनाना पड़ता है और न किसी आदर्श का मूल्य आकलन के लिए जीवन की विविधता प्रदर्शने की आवश्यकता होती है। हमारा बिखरा जीवन इतना व्यक्तिप्रधान कि प्रायः वैयक्तिक भ्रान्तियाँ भी समष्टिगत सत्य का स्थान ले लेती हैं और स्वार्थ साधन के प्रयास ही व्यापक गतिशीलता के पर्याय बन जाते हैं। जहाँ तक जीवन का प्रश्न है, उसे सजीवता के बँध में देखने का न बुद्धिवादी को अवकाश है और न इच्छा। वह तो उसे वर्णन की छाया समान स्पर्श से दूर रख कर देखने का अभ्यास करते-करते स्वयं इतना लिप्त हो गया है कि उसे ज्ञान का रजिस्टर मात्र कहना चाहिए। जीवन व्यापक स्पन्दन से वह जितना दूर हटता जाता है उतना ही विकास मूलतः वही से अपरिचित बनता जाता है। और अन्त में उसका भारी अज्ञानात्मक ज्ञान उसी के जीवन की उष्णता को ऐसे दबा देता है जैसे टीसी चिनगारी को राख का ढेर। आज की आवश्यकताओं के अनुसार संसार भर के सम्बन्ध में बहुत कुछ ज्ञातव्य जानता है। परन्तु अपनी ही अनुभूति के बिना यह ज्ञान-बोज धुनते रहने के लिए ही उसके तत्त्व की सारी सीमा घेरे रहते हैं।

हमारे बुद्धिजीवी वर्ग में अधिकांश तो मानसिक हीनता की भावना ही पलते और बढ़ते हैं। उनका बाह्य-जीवन ही समुद्र-पार के कतरे

पर, बु।

घना

समय है आत्मक का दुःख और अवस्थित रहना उनता ही निश्चिन।
नैतिकता की दृष्टि से भी धर्म मनुष्य को नीचे गिरने की इतनी सुविधा
नहीं देता जिसकी बुद्धि दे सकती है, क्योंकि धर्मिक के धर्म के साथ उसका
आत्मा का विक्रि जाना सम्भाव्य ही है, परन्तु बुद्धि-विनंता की तुला
र उसको आत्मा का चढ़ जाना अनिवार्य रहता है।
धर्म की स्फूर्तिदायक पवित्रता के कारण ही सब देशों में सब युगों
सन्देशवाहक और साधक उसे महत्त्व दे सके हैं। अनेक तो जीवन के

आदि से अन्त तक उसी को आजीविका का साधन बनाये रहे। इस प्रकार
जहाँ कहीं जीवन की स्वच्छ और स्वाभाविक गति है वहाँ धर्म की किमी
न किसी रूप में स्थिति आवश्यक रहती है।
केवल धर्म ही धर्म के भार और विधाम देने वाले साधनों के नितान्त

अभाव ने हमारे धर्मजीवी जीवन का समस्त सौन्दर्य नष्ट कर दिया है।
यह स्वामाविक भी था। जिस मिट्टी से घर बना कर हम आधी, पानी, घृष,
अथवा आदि से अपनी रक्षा करते हैं वही जब अपनी निश्चित स्थिति छो-

कर हमारे ऊपर डह पड़ती है तब बज्रपात से कम सहारक नहीं होती
सब मानव-समुष्टि में ज्ञान के अभाव ने हड्डियों को अतल गहराई दे दी है
यह मिथ्या नहीं और अर्थव्यवस्था ने इसकी दयनीयता को अतीत बना डाला
है यह सत्य है, परन्तु सब कुछ कह सुन चुकने पर इतना तो स्वीकार करना
ही होगा कि धर्म का यह उपासक, केवल बुद्धि-व्यापारी से अधिक स्वाभा-
विक मनुष्य भी है और आत्मीय गुणों का उससे अधिक विद्वत्सनीय रक्षक
ही। इतना ही नहीं, युगों से सूक्ष्म परिष्कार और सीमित विस्तार
नेवाली, नृत्य, गीत, चित्र आदि कलाओं के मूल रूप में भी वह सजोये है
र उपयोगी चित्रों की विविध व्यावहारिकता भी वह समाले है। जीवन
तप में टहरने की वह नितनी समता रखता है उतनी किसी बुद्धिवादी
सम्भव नहीं है। वास्तव में उसके पारस-प्रासाद के लिए बुद्धिजीवी ही
विभीषण बन गया अन्यथा उसके जीवन में, विद्वत्तियों की इतनी वि-

उस वगैरे अस्वास्थ्य और हानिकारक मनुष्य के उद्धार के लिए प्रयत्न करने के लिए ही उन्होंने अपने अस्वास्थ्य के राज्य को अपनी ही प्यास की आग और निराशा के दावे से हम सब को दिया कि उनका हर स्वप्न सच होने ही शुरू हो गया और प्रत्येक आदर्श अस्तित्व में ही टूटने लगा ।

बीज केवल अनेक होने के लिए, अन्य बीजों की समष्टि नहीं छोड़ना ।
यही नैतिक समष्टि सम्भव करने के लिए ही ऐसी पृथक् स्थिति स्वीकार करना है । यदि वही बीज पुरानी धरती और गलत आचार्य की अवस्था रहे, अपनी असाधारणता बनाये रखने के लिए धरती पर उठता ही रहे तो गलत के निकट अपना साधारण परिचय भी खो बैठेगा ।

कवि, कलाकार, साहित्यकार सब, समष्टिगत विशेषताओं को नव रूपों में साकार करने के लिए ही उससे कुछ पृथक् खड़े जान पड़ते हैं, परन्तु यदि वे अपनी असाधारण स्थिति को जीवन की व्यापकता में साधारण न बना सकें तो आश्चर्य की वस्तु मात्र रह जायेंगे । महान् से महान् कलाकार भी हमारे भीतर कौतुक का भाव न जगाकर, एक परिचयभर

संभव है थमिक का दुःख और व्यवस्थित रहना उनता ही निश्चित नैतिकता की दृष्टि से भी थम मनुष्य को नीचे गिरने की इतनी सुविधा नहीं देता जितनी बुद्धि दे सकती है, क्योंकि थमिक के थम के साथ उसकी आत्मा का विक जाना समाव्य ही है, परन्तु बुद्धि-विश्रंता की तुल्य उसकी आत्मा का चढ जाना अनिवार्य रहता है।

थम की स्फूर्तिदायक पवित्रता के कारण ही सब देशों में सब आदि से अन्त तक उसी को आजीविका का साधन बनाये रहे। अनेक तो जीवन जहाँ कहीं जीवन की स्वच्छ और स्वाभाविक गति है वहाँ थम की किमी किसी रूप में स्थिति आवश्यक रहती है।

केवल थम ही थम के भार और विद्याम देने वाले साधनों के नितान्त प्राव ने हमारे थमजीवी जीवन का समस्त सौन्दर्य नष्ट कर दिया है।

आदि से अपनी रक्षा करते हैं वही जब अपनी निश्चित स्थिति छ कर हमारे ऊपर ढह पड़ती है तब वज्रपात से कम सहायक नहीं होती।

स मानव-समष्टि में ज्ञान के अभाव ने रुद्रियों को अतल गहराई दे दी है मिथ्या नहीं और अर्थवैषम्य ने इसकी दयनीयता को असोम बना डाला यह सत्य है, परन्तु सब कुछ कह सुन चुकने पर इतना तो स्वीकार करना होगा कि थम का यह उग्रामक, केवल बुद्धि-व्यापारी ने अधिक स्वाभाविक मनुष्य भी है और जातीय गुणों का उमने अधिक विद्वगनीय रसाक भी।

इतना ही नहीं, युगों से गूढ़म परिष्कार और सीमित विस्तार पानेवाली, नृत्य, गीत, चित्र आदि कलाओं के मूल रूप में भी वह सज्जोयें हैं और उपयोगी नित्यों की विविध व्यावहारिकता भी वह सज्जोयें हैं। जीवन के सपर्य में टहरने की बट जितनी क्षमता रखता है उतनी किमी बुद्धिशरी में समन नहीं है। वाग्वन में उमने पारंग प्राणाद के जित बुद्धिशरी विभीषण बन गया मन्मथा उमने जीवन में, विद्वानों की इतनी विपरी

ना का प्रवेश, सहज न हो पाता ।

हमारे कवि, कलाकार आदि बुद्धिजीवियों के विभिन्न स्तरों में उत्पन्न हुए और वही पले हैं । अतः अपने वर्ग के संस्कारों का असमाजी और गुण-मवगुणों का उत्तराधिकारी होना, उनके लिए स्वाभाविक हो रहेगा । उनके मस्तिष्क ने अपने वातावरण की विषमता का ज्ञान, बहुत विस्तार में मर्चन किया और उनके हृदय ने व्यक्तिगत सीमा में सुख-दुःखों को बहुत सीखना से अनुभव किया । विभिन्न संस्कारों की धूप-छाया, विविधता, भरी भाव-भूमि और चिन्तन की अनेक दिशाओं ने मिल कर उनके जीवन को एक सौमित्र स्थिति दे दी थी । परन्तु उस एक स्थिति को सम्पूर्ण वाता-वरण में सायबता देने के लिए समष्टि का वही स्पर्श अपेक्षित था जो फूल को समीर से मिलता है—मजबूत, निश्चित पर व्यापक । जिस समाज में उनकी स्वाभाविक स्थिति थी वह विषमताओं में बिखर चुका था, उसमें ऊँचे वर्ग के अहंकार और इजिमत ने उससे परिचय असम्भव कर दिया था और निम्न में उतरने पर उन्हें आभिजात्य के खो जाने का भय था । फलतः उन्होंने अपने एकाकीपन के द्रव्य को अपनी ही प्यास की आग और निराशा के पाले से इस तरह भर लिया कि उनका हर स्वप्न मुकुलित होते ही झुलस गया और प्रत्येक आदर्श अकुरित होते ही ठिठुर चला ।

बीज केवल अकेले रहने के लिए, अन्य बीजों की समष्टि नहीं छोड़ता । यह होता नूतन समष्टि सम्भव करने के लिए ही ऐसी पृथक् स्थिति स्वीकार करता है । यदि वही बीज पुरानी धरती और सनातन आकाश की अवस्था करवे, अपनी असाधारणता बनाये रखने के लिए वायु पर उड़ता ही रहे तो मसार के निबट अपना साधारण परिचय भी खो बैठेगा ।

कवि, कलाकार, साहित्यकार सब, समष्टिगत विशेषताओं को नव नव रूपों में साधार करने के लिए ही उससे कुछ पृथक् खड़े जान पड़ते हैं, परन्तु यदि वे अपनी असाधारण स्थिति को जीवन की व्यापकता में साधारण न बना सकें तो आदर्शों की वस्तु मात्र रह जायेंगे । महान् से महान् कलाकार भी हमारे भीतर कौतुक का भाव न जगाकर, एक परिचयभरा

आहमं आनीयता
अनायास ही तणावला, वाढीसि वर घुमतेनु ना आवडित और विवि
विष्णु धृष्ट ना निश्चित और निर्गुण गुरुवर ही ह्ये मार्ग सि
नवचंद्र ।
॥ आठ वल्गाकार नवचंद्र का
ही उगरे शायद

आज बसावत समष्टि का महाप समागम है, परन्तु इस बीच के
ही उगरे सम्पूर्ण जीवन की स्वीकृति नहीं है। बौद्ध समाज पर चिर-
शिव मानवों की प्रगल्भ करने समय उगे आनी विमल
उपनी आन देवताओं की मूर्ति। यह विद्वानों के

जीवन के शब्दों में व्यक्त होकर गिदाला जव पयं, ममान, नीति आदि ।
 मनीषी जीवित पर प्रगति हो जाने हैं तब से व्यवसाय-वृत्ति को जैव ।
 इसीद्वारे देते हैं वेगी जीवन के विभाग को नहीं दे पाते । माहिर-मान
 आदि के धरातल पर भी इन नियम का अभाव नहीं मिलेगा ।
 ६ मनीषी साहित्यकार और जीव के बुद्धिबल को
 ता में ऐसी नियामकता को

ता में ऐसी निष्पक्षता को जन्म दे दिया है जो

2) वे अपने जीवन से बिना कुछ दिये ही एक पद से सब कुछ ले लेती हैं और दूसरी नियासीलता को जन्म दे दिया है जो गिड़ान्तों को माय-और दूगदरे को, बहुत मूल्य पर देने की वृत्ति से उस दो पक्षों को तो लेती हैं और बचने के बुद्धिबल और अनुभूति की हरि-विदा नहीं मिलेगा।

और दूसरे को, बहुत मूल्य पर देने की इच्छा रखते हैं। इन बनजातों को निरन्तर स्वार्थ और उसकी मानिक अनुभूति सबसे अधिक प्रेरित है, अतः यह प्रकृति न उसे गहराई देती है न व्यापकता। यह युग ही उठता है कि अरली उत्तेजनाओं से उसमें कृत्रिम उष्णता भरी काव्य की उत्कृष्टता किसी विशेष विषय पर ही हमारे हृदय को ऐसा

काव्य की उत्कृष्टता किसी विशेष विषय पर निर्भर नहीं; उसमें
लेए हमारे हृदय को ऐसा पारस होना चाहिए जो सबको अपने स्पर्श-मात्र
सौना करदे। एक पागल से चित्रकार को जब फटा कागज, टूटी ब्रूलिका
और धब्बे ढाल देने वाला रंग मिल जाता है तब क्षण भर में वह निर्जीव
कागज जीवित हो उठता है, रंगों में कल्पना साकार हो उठती है।

विधि युक्त

ਮਾਧੋ. 21.31

ओं में जीवन प्रतिबिम्बित हो उठता है, उस पार्थिव वस्तु के अपार्थिव के साथ हम हंसते हैं, रोते हैं और उसे मानवीय सम्बन्धों में बांध रखना ते हैं। एक निरर्थक ज्ञानज्ञान से पूर्ण टूटे एवतारे के जर्जर तारों में गायक कुशल उगलिया उलझ जाने पर उन्ही तारों में हमारे सारे गुण-दुःख इस उठने हैं, सारी सीमा के सबीण वस्तुन छिन्न-भिन्न होकर वह जाते हैं (हम किसी अज्ञात सौन्दर्य-लोक में पहुँचकर चरित में, मृग्य में उमे । मुनते रहने की इच्छा करने लगते हैं, निरन्तर पैरों से ठुकराये जानेवाले न पापाण में गिल्ली के कुशल हाथ का स्पर्श होने ही वही पापाण मोम समान अपना आकार बदल डालता है, उममें हमारे सौन्दर्य के, शक्ति के दर्श जाग उठते हैं, और तब उमो को हम देवता के समान प्रतिष्ठित कर इन फूल से पूजकर अपने को धन्य मानते हैं। जल का एकरंग भिन्न-भिन्न वाले पात्रों में जैसे अपना रंग बदल लेता है उसी प्रकार चिरन्तन सुल-ल हमारे हृदयों की सीमा और रंग के अनुसार बन कर प्रकट होते हैं। हमें जे हृदयों की सारी अभिव्यक्तियों को एक ही रूप देने को आकुल न होना हिए क्योंकि यह प्रयत्न हमें किसी भी दिशा में सफल न होने देगा।

मनुष्य स्वयं एक सजीव कविता है। कवि की कृति तो उम सजीव बिता का शब्द-चित्र

सजी एवता जानी उ

तर एक और इस संसार से अधिक सुन्दर अधिक मुकुमार समार बना ला है। मनुष्य में जड़ और चेतन दोनों एक प्रगाढ़ आलिंगन में आवद्ध रहने । उनका बाह्याकार पार्थिव और भीषित सुसारे का भाग है और अन्त-तल अपार्थिव असीम का—एक उस को विश्व में बांध रखता है तो दूसरा में बसना द्वारा उठाता ही रहना चाहता है।

जड़ चेतन के बिना विषम-दुन्य है और चेतन जड़ के बिना आवार-दुन्य। इन दोनों की चिया और प्रतिचिया ही जीवन है। चाहे कविता किसी भाषा में हो चाहे किसी 'वाद' के अन्तर्गत, चाहे उममें पार्थिव विश्व की अभिव्यक्ति हो चाहे अपार्थिव की ओर चाहे दोनों के अविच्छिन्न सम्बन्ध की,

जाता है, परन्तु इस जटिलता के मूल में मनुष्य कोई अन्तर न होकर
वैज्ञानिक-प्रयत्न में मनुष्य का अन्तर्गत और अन्तर्गत होना ही है।

यदि मनुष्य को मानवता का वास्तविक अन्तर ही उसके जीवन की पूर्ण
रक्षा तो शेष प्राणिजगत् के समान वह ब्रह्म में अन्तर्गत समझाओ मे
रखा जाता। परन्तु ऐसा ही नहीं मना। उसके शरीर में जैसा भौतिक
जगत् का चरम दिशा है। उसकी योजना भी उसी प्रकार प्राणिजगत् की -
योजना का अन्तर्गत है। *हमारे, मानवता के*

मनुष्य का निरन्तर अन्तर्गत होना चाने-बाने यह मानविक जगत्
वस्तुजगत् के मध्य में प्रभावित होता है, उसके मनेना में अपनी अभि-
व्यक्ति चाहता है परन्तु उसके अन्तर्गत की पूर्णता में स्वीकार नहीं करना
चाहता। अतः जो कुछ अन्तर्गत है वेचन उनका ही मनुष्य नहीं ब्रह्म आ मनेना
— उसके गाय-नाथ उमरा जिनका विस्तृत और अनिश्चित अप्रयत्न जीवन
है उसे भी समझना होगा, अन्तर्गत जगत् में उमरा भी मनुष्यत्व करना हीगा,
अन्तर्गत मनुष्य के सम्बन्ध में हमारा वास्तविक ज्ञान अपूर्ण और गाने समाधान
अपुने रहेंगे।

मनुष्य के इस दोहरे जीवन के समान ही उसके निपट वास्तव जगत् की
सब वस्तुओं का उपयोग भी दोहरा है। ओग की मूर्तों में जड़े गुलाब के दल जब
हमारे हृदय में मुक्त एक अव्यक्त गौन्द्य और गुप्त की भावना को जागृत
कर देते हैं, उनकी शक्ति गुप्तता हमारे अस्ति-पद को विस्तार की सामग्री
देती है तब हमारे निकट उनका जो उपयोग है वह उस समय के उपयोग से
सर्वथा भिन्न होगा जब हम उन्हें मिथी में गलाकर और गुलकन्द नाम देकर
औषधि के रूप में ग्रहण करने हैं। समय, आवश्यकता और वस्तु के अनुसार
इस दोहरे उपयोग की मात्रा तथा उत्पन्नित रूप कभी-कभी इतने भिन्न हो
जाते हैं कि हमारा अन्तर्जगत् बहिर्जगत् का पूरक होकर भी उसका विरोधी
जान पड़ता है और हमारा वास्तविक जीवन मानविक से मचाहित होकर भी
उसके सर्वथा विपरीत।

मनुष्य के अन्तर्जगत् का अन्तर्गत अन्तर्गत अन्तर्गत अन्तर्गत अन्तर्गत अन्तर्गत

उपाने अमूल्य होने का रहस्य यही है कि यह मनुष्य के हृदय के अ.
 दृष्ट है। विनयी ही भिन्न परिस्थितियों में होने पर भी हम हृदय से एक
 ही, यही कारण है कि दो मनुष्यों के देन, वाक और गमात्र आदि में समान
 सदा जैसा अन्तर होने पर भी वे एक दूसरे के हृदयगत भावों को समझने में
 गम्य हो गफने हैं। जीवन की एकता का यह छिपा हुआ मूल ही कविता
 प्राण है। जिस प्रकार बीजा के तारों के भिन्न-भिन्न स्वरों में एक प्रकार की
 एकता होती है जो उन्हें एक साथ मिलकर चलने की ओर अपने साथ के
 संगीत की सृष्टि करने को दायता देती है उसी प्रकार मनुष्य के हृदयों में
 एकता छिपी हुई है, यदि ऐसा न होता तो विश्व का संगीत ही बेमुठ हो
 जाता।

फिर भी न जाने क्यों हम लोग अलग अलग छोटे छोटे दायरे बनाकर
 २०५ उन्हीं में बँट बैठे साँचा करते हैं कि दूसरा हमारी पहुँच में बाहर है।
 कवि विश्व का या मानव का बाह्य-सौन्दर्य देखकर सब कुछ मूल जा.
 है, सोचता है उसके हृदय से निकला हुआ स्वर अलग एक संगीत की सृष्टि
 करेगा, दूसरा विश्व की आन्तरिक वेदना-बहुल सुषमा पर मतवाला है
 छटा है, समझता है उसके हृदय से निकला हुआ स्वर सबसे अलग एक
 राते संगीत की सृष्टि कर लेगा, परन्तु वे नहीं सोचते कि उन दोनों के
 मिलकर ही विश्व-संगीत की सृष्टि कर रहे हैं। २०५
 मनुष्य चाहे प्रकृति के जड़ उपादानों का सृष्टाविरोध माना जावे
 और चाहे किसी व्यापक चेतना का अक्षभूत परन्तु किसी भी अवस्था में
 का जीवन इतना सरल नहीं है कि हम उसकी पूर्ण सृष्टि के लिए
 १ के अंकों के समान एक निश्चित सिद्धान्त दे सकें। जड़ द्रव्य से
 सृष्टा तथा मनस्पति-जगत् के समान ही उसका शरीर निर्मित और विक-
 साह, अतः प्रत्यक्ष रूप से उसकी स्थिति बाह्य जगत् में ही रहेगी और
 २०६ अन्तः के सामान्य नियमों से संचालित होगी। यह सत्य है कि प्रकृति में
 जीवन के जितने रूप देखे जाते हैं मनुष्य में इतना विविध आम प्रकृता
 कि सृजन की स्थूल समष्टि में

मनुष्य के दृग दोन्ने जीवन के समान ही उत्तरे बिन्दु वाला जगत् की सब वस्तुओं का उपयोग भी होना है। अंग की बूटों से जट्टे गुणध के दृग जब हमारे हृदय में गुण गुण अद्वैत मोन्दर्य और गुण की भावना को जागृत कर देने हैं, उनही दार्ष्टिक गुणमा हमारे मरिगत को रिन्नान की सामग्री देनी है तब हमारे निबट उनका जो उपयोग है वत उन समय के उपयोग से सर्वथा भिन्न होगा जब हम उन्हें मिथी में मण्डरर और गुणरर नाम देकर औपधि के रूप में दृत्त करने हैं। समय, आवसरता और वरनु के अनुगार दृग दोन्ने उपयोग की मात्रा तथा सज्जनित रूप बभी-बभी दृत्तने भिन्न हो जाने हैं कि हमारा अन्तर्गन् वद्विर्गन् का पुरक होकर भी उमरा भिरोपी जान पड़ता है और हमारा बाह्य जीवन मानसिक से मन्नालित होकर भी उसके सर्वथा विरहीत।

मनुष्य के अन्तर्गन् का विक्रम उसके मस्तिष्क और हृदय का परिष्कृत

होने लगता है, परन्तु इस परिष्कार का क्रम इतना जटिल होता है कि व निश्चित रूप से केवल बुद्धि या केवल भावना का गूँथ पकड़ने में अगम्य रहता है। अभिव्यक्ति के बाह्य रूप में बुद्धि या भावपक्ष की प्रधानता ही हमारी इस धारणा का आधार बन सकती है कि हमारे मस्तिष्क का विशेष परिष्कार चिन्तन में हो सक्त है और हृदय का जीवन में। एक में हम बाह्य जगत् के सत्कारों को अपने भीतर लाकर उनका निरीक्षण परीक्षण करते हैं और दूसरे में अपने अन्तर्जगत् की अनुभूतियों को बाहर लाकर उनका मूल आसक्त है।

चिन्तन में हम अपनी बहिर्मुखी वृत्तियों को समेट कर किसी वस्तु के सम्बन्ध में अपना बौद्धिक समाधान करते हैं, अतः कभी कभी वह इतना ऐकान्तिक होता है कि अपने से बाहर प्रत्यक्ष जगत् के प्रति हमारी चेतना पूर्ण रूप से जागरूक ही नहीं रहती और यदि रहती है तो हमारे चिन्तन में बाधक होकर। दार्शनिक में हम बुद्धिवृत्ति का ऐसा ही ऐकान्तिक विकास है जो उसे जैसे जैसे ससार के अव्यक्त सत्य की गहराई तक बढ़ाता चला है जैसे जैसे उसके व्यक्त रूप के प्रति चीतराग करता जाता है। वैज्ञानिक निरन्तर अन्वेषण के मूल में भी यही वृत्ति मिलेगी; अन्तर केवल इतना है कि उसके चिन्तनमय मनन का विषय सृष्टि के व्यक्त विविध रूपों की उल्लेख है, उन रूपों में छिपा हुआ अव्यक्त सूक्ष्म नहीं। अपनी अपनी खोज में दोनों ही चीतराग हैं क्योंकि न दार्शनिक अव्यक्त सत्य से रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने की प्रेरणा पाता है और न वैज्ञानिक व्यक्त जगत् के विविध रूपों में रागात्मक स्पर्श का अनुभव करता है। एक व्यक्त रहस्य की गहराई तक पहुँचना चाहता है, दूसरा उसी के प्रत्यक्ष विस्तार की सीमा तक, परन्तु दोनों ही दिशाओं में बुद्धि से अनुशासित हृदय को मौन रहना पड़ता है, इसी से दार्शनिक और वैज्ञानिक जीवन सम्पूर्ण चित्र जो मनुष्य बौद्ध धर्म सृष्टि के रागात्मक सम्बन्ध से प्राप्त है नहीं दे सकते। 36 (11/11/42) 410 2।
प्य के ज्ञान की कुछ साक्षात् दर्शन, विज्ञान आदि के समान

लेकर आज के शुष्क बुद्धिवाद तक जो कुछ बाध्य के रूप और उपयोगिता सम्बन्ध में कहा जा चुका है, वह परिमाण में, कम नहीं, परन्तु अब तक न मनुष्य के हृदय का पूर्ण परितोष हो गया है और न उगरी बुद्धि का माधन। यह स्वाभाविक भी है क्योंकि प्रत्येक युग अपनी विशेष समस्याएँ खड़ा करता है जिनके समाधान के लिए नई दिशाएँ खोजनी हूँ। जोवृत्तियाँ उग युग के बाध्य और बलाओं को एक विशिष्ट रूपरेखा देती हैं। मूलतत्त्व न जीवन ने कभी बदले हैं और न बाध्य के कारण के। उन शास्त्रों के नाम में सम्बद्ध हैं जिनके मूल्य एक रहने पर ही जीवन की प्रवृत्ति निर्भर है।

अर्थात् युगों के जिनने मनुष्य को हम अधिकारी हैं उनके आधार पर कहा जा सकता है कि कविता मानव-ज्ञान की अन्य शाखाओं की सदैव अपूर्ण रही है। यह प्रेम अकारण और आत्मिक न होकर मकारण और निश्चित है क्योंकि जीवन में चिन्तन के शास्त्र में ही भावना तरुण हो जाती है। मनुष्य बाह्य समाज के साथ कोई बौद्धिक समझौता करने के पहले ही उसके साथ एक सांसारिक सम्बन्ध स्थापित कर लेता है यह उसके शिशु जीवन में ही स्पष्ट हो जायेगा। यदि हम मनुष्य के मस्तिष्क के विकास की तुलना फूल के विकास से करें जो अपनी सरसता में सदा ही परिमित है तो उसके हृदय के विकास को फूल का विकास कहना उचित होगा जो अपने शीर्ष में अपरिमित होकर ही खिलता हुआ माना जाता है। एक अपनी स्थिति में पूर्ण है और दूसरा विस्तार में।

यह कि मनुष्य के ज्ञान की समष्टि में कविता को और विशेषतः को इतना महत्व मनुष्य की भावुकता से ही नहीं उसके शरीर से भी मिला था। जिस युग में मानवजाति के समस्त दूधरे कण्ठ में संचरण करते हुए ही रहना पड़ता था एक शाखा को अपने अस्तित्व के लिए छन्दबद्धता के पथ का ही आश्रय लेना पड़ा। इसके अतिरिक्त शास्त्र होने के लिए भी पथ की रूपरेखा का वह बन्धन

में अपनी क्षिति नामव्याक्ति करता रहता है अपने व्यक्त और अव्यक्त दोनों रूपों की एकता लेकर साहित्य में व्यक्त होता है। साहित्यकार जिस प्रकार यह जानता है कि बाह्यजगत् में मनुष्य जिन घटनाओं को जीवन का नाम देता है वे जीवन के व्यापक सत्य की गहराई और उनके आयुष्मण की परिचायक हैं, जीवन नहीं; उसी प्रकार यह भी उसने छिपा नहीं कि जीवन के जिस अव्यक्त रहस्य की वह भावना कर सकता है उसीकी छाया इन घटनाओं को व्यक्त रूप देती है। इसी से देता और काल की सीमा में क्या साहित्य रूप में एकदेशीय होकर भी अनेकदेशीय और युगविशेष सम्बद्ध रहने पर भी युग-युगान्तर के लिए सवेदनीय बन

साहित्य की विस्तृत रंगशाला में हम कविता को कौनसा स्थान दें यह भी स्वाभाविक ही है। वास्तव में जीवन में कविता का बही मद्राब है जोर भित्तियों से घिरे कक्ष के वायुमण्डल को अतायास ही सहस्र के पत वायुमण्डल से मिला देने वाले वातायन को मिला है। जिस प्रकार वह सा-खड़ को अपने भीतर बन्दी कर लेने के लिए अपनी परिधि में नहीं प्रत्युत हमें उस सीमा-रेखा पर खड़े होकर क्षितिज तक दृष्टि-प्रसंवेधा देने के लिए, उसी प्रकार कविता हमारे दृष्टि-सीमित जीवन के व्यापक जीवन तक फैलाने के लिए ही व्यापक सत्य को अपनी घाँघरी है। साहित्य के अन्य अंग भी ऐसा करने का प्रयत्न करते

हैं, परन्तु न उनमें सामजस्य की ऐसी परिणति होती है न आपास-हीनता। जीवन की विविधता में सामजस्य को खोज लेने के कारण ही कविता उन ललित मलाओं में उत्कृष्टतम स्थान पा सकती है जो गति की विभिन्न रूपों की अनेकरूपता या रेखाओं की विषमता के सामजस्य पर

कविता मनुष्य के हृदय के गमन ही पुरातन है परन्तु अब तक उतकी ऐसी परिभाषा न बन सकी जिसमें तर्क-वितर्क की सम्भावना न रही। उपर्युक्त अतीत भूत से लेकर वर्तमान तक और बाह्य रंगमण्डल

ले लेकर आज के सुष्क बुद्धिवाद तक जो कुछ काव्य के रूप और उपयोगिता के सम्बन्ध में कहा जा चुका है, वह परिमाण में, कम नहीं, परन्तु अब तक न मनुष्य के हृदय का पूर्ण परितोष हो सका है और न उसकी बुद्धि का समाधान। यह स्वाभाविक भी है क्योंकि प्रत्येक युग अपनी विशेष समस्याएं लेकर आता है जिनके समाधान के लिए नई दिशाएं खोजती हुई मनोवृत्तियां उस युग के काव्य और कलाओं को एक विशिष्ट रूपरेखा देती रहती हैं। मूलतः न जीवन के कभी बढ़ने हैं और न काव्य के कारण वे उस शास्त्र के चेतना में सम्बद्ध हैं जिसके तत्त्व एक रहने पर ही जीवन की अनेकहपता निर्भर है।

अतीत युगों के जितने सवित ज्ञानकोष के हम अधिकारी हैं उगने आधार पर कहा जा सकता है कि कविता मानव-ज्ञान की अन्य शाखाओं की संवेद अग्रणी रही है। यह प्रेम अवारण और आकस्मिक न होकर सकारण और निश्चिन्त है क्योंकि जीवन में चिन्तन के संभव में ही भावना तटस्थ होती जाती है। मनुष्य शास्त्र ससार के माय कोई बौद्धिक समझौता करने के पहले ही उसके माय एक रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कर लेता है यह उसके शिरो जीवन में ही स्पष्ट हो जायेगा। यदि हम मनुष्य के मस्तिष्क के विकास की तुलना फल के विकास में करें जो अपनी सरसता में सदा ही परिमित है तो उसके हृदय के विकास को फूल का विकास रहता उचित होगा जो अन्त सौरभ में अपरिमित होकर ही खिलता हुआ माना जाता है। एक अन्त अपरिपक्वता में पूर्ण है और दूसरा विस्तार में।

यह तथ्य है कि मनुष्य के ज्ञान की समष्टि में कविता को और विशेषतः उसके शास्त्र रूप को इतना महत्व मनुष्य की भावना ने ही नहीं उगं व्यावहारिक दृष्टिकोण में भी मिला था। जिस युग में मानवजाति के समस्त ज्ञान को एक बण्ट में दूसरे बण्ट में संचरण करते हुए ही रहता पढ़ता है उस युग में उसकी प्रत्येक शाखा को अपने अस्तित्व के लिए छन्दबद्धता कारण स्मृतिमुल्य पद्य का ही आश्रय लेना पड़ा। हमारे अनिश्चित युग ज्ञान में अधिक शास्त्र होने के लिए भी पद्य की रूपरेखा का बहु अन्य

से लेकर आज के शुष्क बुद्धिवाद तक जो कुछ वाक्य के रूप और उपयोगिता के सम्बन्ध में कहा जा चुका है, वह परिमाण में, कम नहीं, परन्तु अब तक न मनुष्य के हृदय का पूर्ण परिलोच हो सका है और न उसकी बुद्धि का समाधान। यह स्वामाविक भी है क्योंकि प्रत्येक युग अपनी विशेष समस्याएँ लेकर आता है जिनके समाधान के लिए नई दिशाएँ खोजनी हुईं। मनोवृत्तियाँ उम्र युग के वाक्य और कलाओं को एक विशिष्ट रूपरेखा देती रहती हैं। मूलतत्त्व न जीवन के कभी बदले हैं और न वाक्य के कारण वे उम्र शतवत् चेतना में सम्बद्ध हैं जिनके तत्त्वतः एक रहने पर ही जीवन की अनेक रूपता निर्भर है।

अतीत युगों के जिनने सचित्त ज्ञान कोप के हम अधिकारी हैं उसने आधार पर कहा जो भक्तता है कि कविता मानव-ज्ञान की अन्य शाखाओं की सदैव अप्रतीति रही है। यह प्रेम अकारण और आकस्मिक न होकर सकारण और निश्चित है क्योंकि जीवन में चिन्तन के संशय में ही भावना तरुण होती है। मनुष्य बाह्य सत्ता के साथ कोई बौद्धिक समझौता करने के पहले ही उसके सुष्ठु एक रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कर लेता है यह उसके शिरो जीवन से ही स्पष्ट हो जायेगा। यदि हम मनुष्य के मस्तिष्क के विकास की तुलना फूल के विकसित से करें जो अपनी सरसता में सदा ही परिमित है तो उसके हृदय के विकास को फूल का विकास कहना उचित होगा जो अपनी सौरभ में अपरिमित होकर ही खिला हुआ माना जाता है। एक अपनी अपरिपक्वता में पूर्ण है और दूसरा विस्तार में।

यह सत्य है कि मनुष्य के ज्ञान की समष्टि में कविता को और विशेषतः उनके बाह्य रूप को इतना महत्व मनुष्य की भावुकता से ही नहीं उस व्यावहारिक दृष्टिकोण से भी मिला था। जिस युग में मानवजाति के समस्त ज्ञान को एक कण्ठ से दूसरे कण्ठ में ही रहना पड़ता था उस युग में लिखित चन्दबद्धता।

रोमाना और ट्रेजडी अथवा गुणान्त और दुःगुणान्त को ओर ही मुरात गुणान्त या दुःगुणान्त, जहाँ का ग्राह्यदृष्टिकोण है वहाँ की ऐंद्रिय है। हमारी संस्कृति अगोचर है। हमारा देश इन दिनों ऐंद्रिय के साम्राज्य में भी है, अतएव हमारे आधुनिक ग्राह्य की मूर्ति में वह भी अगोचर नहीं।

अपने प्राचीन साहित्य में हम यह भी देखते हैं कि अन्त में देवता सम्पूर्ण भार गृहिणियों के मस्तक पर ही बरूणा का ताज बन कर पड़ता है, वनवास में सीता और कृष्ण-विरह में गोपिकाएँ कृष्ण की ऐंद्रिय साम्राजियाँ हैं। पुरुष ने ट्रेजडी का भार अपने मस्तक पर नहीं लिया, क्यों? पुरुष यदि यह भार लेता तो उसका अनधिकार होता। इतना भार लेकर यह इस पृथ्वी पर खड़े नहीं रह पाता। पृथ्वी की भाँति गृह-देवियाँ ही सर्वसह हैं, इसीलिए वे पृथ्वी की कन्याएँ हैं; सीता की मुचिलीनता इसी संकेत का रूपक है। माताओं ने जिस सप्ताह को जन्म दिया है, उसकी रक्षा के लिए प्रजा-व्यसयता के लिए वे वीर बाहुओं को जोड़ सुरक्षित देखना चाहती हैं। वे मरणान्तक वेदना स्वयं लेकर अपनी स्त्री की सजीवनी से पुरुष को जीवित रहने के लिये छोड़ जाती हैं। वे मा विधाता की एक विदग्धतम कृति के रूप में सूखी पृथ्वी पर अश्रु-सिन्धु बहाकर चली जाती है और पुरुष मानो एक कवि के रूप में उनका स्मरण कीर्तन करता रहता है। नारी, पुरुष के जीवन में जो कृष्णा-धन छहक जाती है, उसी के कारण पुरुष शान्ति का प्रतिनिधि बन पाता है। कृष्ण ही मनुष्यता है। मनुष्यता के महासिन्धु में पुरुष अपनी जीवन-नौका खेता है; मधु और कंटभ-जैसे जो असुर, मानवता के सिन्धु को कलुषित करते हैं, वह उनका महार करता जाता है।

जीवन की ट्रेजडी नारी के बजाय पुरुष के कन्धों पर पड़ती तो हमारे आश्रमों की व्यवस्था ही बदल जाती। तब शायद एक ही आश्रम रह जाता गृहस्थ। काव्य में एक ही रस रह जाता—शृंगार। उस स्थिति में राम-चरित्र और कृष्ण चरित्र का कथानक ही कुछ और हो जाता।

हम पौराणिक भारतीयों को वैष्णव संस्कृति कलात्मक है, जिसका परि-
 त्त हमें अपने चित्रों, मूर्तियों और दशावतार की शान्तियों से मिलता है (य-
 त्पूर्ण ब्रह्मनृष्टि आध्यात्मिक संस्कृति के प्रकाशन के लिए है। वर्णमाला
 न बोध कराने के लिए जिस प्रकार शिखर-हाथों में सचित्र पोषियां दी जाती
 हैं, उसी प्रकार जनता को अदृश्य आत्मानन्द का ज्ञान कराने के लिए हमारा
 समाज और साहित्य में मगुण आराधना अर्थात् भक्तिमय चित्र-काव्य
 उपस्थित किया गया है। इस प्रकार सत्य ने सौन्दर्य धारण किया है, अदृश्य
 ने दृष्टात पाया है। वे मगुण शान्तिया आज के संन्दर्भ-लेखक (व्याख्यान
 चित्रों) से अधिक सजीव और मानदो हैं। वे अवैज्ञानिक नहीं, मनोवैज्ञानिक
 हैं, जनता की समझ में काव्य द्वारा सहयोग करती हैं।

हम सत्य-शिव-सुन्दरम् के चित्र उपामक हैं, इसलिए कि, हम केवल
 लौकिक नहीं, बल्कि आध्यात्मिक संस्कृति के पूजक हैं। लौकिक जीवन का
 हमने आध्यात्मिक संस्कृति द्वारा लोकोत्तर बनाया है। पश्चिमीय सम्यत
 लौकिक है, अनएव वह कला के, जीवन के, ऊपरी ढांचे (आकार) को ही
 देखती है, वहा इसी अर्थ में कला 'कला के लिए' है। किन्तु हम सुन्दरम् के
 स्थूल ढांचे में सूक्ष्म चेतना को देखने हैं, इसीलिए सुन्दरम् से पहले सत्य
 शिवम् वह कर मानो भाष्य कर देते हैं। इस प्रकार हम उस चेतना का
 ग्रहण करते हैं जिसके द्वारा सौन्दर्य साधारण अस्मित्वमय है।

हम अपनी संस्कृति में एक कवि हैं। पश्चिम अपनी सम्यता में एक
 वैज्ञानिक। स्थूलता (पार्थिवता) के ही रहस्यों में निमग्न रहने के कारण वे
 निष्प्राण शरीर को भी अपनी वैज्ञानिक प्रयोग-शाला में रखने को तैयार हैं
 जबकि हम उसे निस्कार मानकर महात्मज्ञान को सिपुदं कर देते हैं
 जो हमारा त्याग्य है, वह पश्चिम का ग्राह्य है; इसीलिये वह उसे कन्नो ओ
 स्पूजियमो में मँजोये हुए है। हमारा जो ग्राह्य है, उसे हम मँजोते हैं काव्य में
 संगीत में, चित्र में, मूर्ति में—व्यक्ति की स्मृति को अर्थात् उसकी अदृ-
 चेतना को। हमारे ये चित्र, हमारी ये मूर्तियाँ, जड़ता को प्रतिनिधि नहीं; ज

हमने शरीर को ही सत्य नहीं माना तब मूर्ति को क्यों मानेंगे ! हम मूर्ति को ही सम्पूर्ण ईश्वर नहीं मानते । जब कोई मूर्ति मंडित कर दी जाती है तब हम नहीं समझते कि ईश्वर का नाश हो गया, बल्कि उसके बदले दूसरी मूर्ति स्थापित कर देते हैं । हम तो जड़ प्रतीक इमलिये रखते हैं कि हमें यह सांकेतिक पूजना मिलती रहे कि सत्य (चेतना) के न रहने पर जीवन इन प्रतीकों की भांति ही जड़ हो जाता है । इन प्रतीकों के माध्यम से हम उसी सत्य वा, उसी चेतना का आह्वान करते हैं ।

Exp 4.

[हम व्यक्ति को नहीं बल्कि व्यक्ति के भीतर बहने हुए रस को महत्व देते आए हैं, इसीलिये हमारे यहां एक-एक पौराणिक व्यक्ति एक-एक रस के आलम्बन स्वरूप ग्रहण किये गए हैं । दुर्मिदा-पीडित सुदामा कल्याण के प्रतिनिधि, राधाकृष्ण प्रीति के प्रतिनिधि, सीताराम भक्ति के प्रतिनिधि हैं । इन तथा अन्यान्य रसों में हमने व्यक्तियों का चित्र नहीं बनाया, बल्कि व्यक्तियों के अन्यतम प्रतिनिधियों का रस-चित्र बनाया है । उन चित्रों के साथ एक-एक आख्यान जुड़े हुए हैं, मानो प्रत्येक चित्र एक-एक मूक खण्ड-काव्य हो ।]

(५)

Exp 5

[हमारे काव्य में जो आलम्बन-मात्र है, विज्ञान के लिए वह आलंबन ही सम्पूर्ण लक्ष्य है । विज्ञान अपने अनुसंधानों से प्राणिसास्त्र को जानता है, जबकि हम रसों के भीतर से हृदय का अनुसंधान करते आये हैं । हम विज्ञान को अपने लौकिक अस्तित्व के लिये ग्रहण करते हैं, ज्ञान को आत्मबोध के लिए, रस को आत्मीयता के लिए । इन सभी आदानों में भारत का दृष्टि-क्षेत्र कला का सत्यम्-शिवम्-सुन्दरम् ही है ।]

(३)

✕ मध्यकाल की हिन्दी कविता, जिसमें राधाकृष्ण और सीताराम की तकियां हैं, वह गृहस्थों के भस्वर जीवन में अविनश्यक का साहचर्य है । सृष्टि के लिए मानों अपने कलाघर का सरक्षण है [हम मिट्टी की जीवित प्रतिमाएं अपने प्रतिमाकार को अपने ही जैसे रूप-रंगों में प्रत्यक्ष कर अपनी अगणित तनाओं को उसमें पुंजीभूत कर, उसके महान् अस्तित्व से जीवन-माना के

लिए शक्ति और स्फूर्ति ग्रहण करती हैं। जिसमें इतनी चेतनाओं का सम्मिलन है, जिसमें सौ-सौ सजीव विश्वासों का केन्द्रीकरण है, वह प्रभु निरा निर्जीव कल्पनामात्र कैसे कहा जा सकता है। अगणित बलकण्टो से चैतन्य होकर जब शून्य आकार भी सजीव प्रतिध्वनि देता है तब वह निर्गुण अपनी अगणित आत्माओं से शोभा-ममाविष्ट होकर क्यों न सगुण हो जायेगा ? हम तात्त्विक नहीं विश्वासी हैं। आध्यात्मिक और दार्शनिक अनुभव हमारे धार्मिक विश्वास के मूल आधार हैं। हम सत्य को कुरेद-कुरेद कर नहीं देखते। कुरेद-कुरेद कर अपने पर, सत्य को शत-विशत कर देने पर, तात्त्विक जिगे अन्त में कुरूप बना-र पायेंगे, उसे हम रूपवान बन रहे हैं देवों के लिए विश्वासपूर्वक ही अपने 'दयामन्दिर में आराध लेते हैं'।

धार्मिक विश्वासों का क्षेत्र यह है जिसमें बुद्धि और तर्क प्रवेश करने का पल तो करते हैं, किन्तु जितना ही प्रयत्न करने है, उतना ही अमफल रहते हैं। हमने धार्मिक विश्वासों की निराधारता नहीं, बल्कि बुद्धि और तर्क की ही अक्षमता गिढ़ होती है। ईश्वर के अस्तित्व का एक मात्र निश्चिन् प्रमाण हमारी चेतना में ही विद्यमान है। हमारे अस्तित्व का मूल तत्त्व, हमारे अंतरात्मा की रहस्यपूर्ण निधि है, जो अपने को 'हम' कहती है, वह ईश्वर की ही गीत है। यही पूर्ण पुरुष अपने को मनुष्य में अवतरित करता है।

यह तो विज्ञान और वैज्ञानिक तरीकों के विस्तृत विपरीत होगा कि हम उन सभी बातों को ठीक न मान कर अस्वीकृत कर दें जिनकी हम टेस्ट ट्यूब में एंगिड की गहायता से जीव न कर सकते हों। अपनी गूढ़मतम उपनियों के बाव विज्ञान भी वही पहुँचेगा जहाँ धार्मिक विश्वास पहुँच चुके हैं। इस प्रकार विज्ञान अध्यात्म के लिए एक आनुगन्धानिक बोध बन जायेगा। आज भी स्वर्गीय योग ने पीपों और वृक्षों में चेतना का अन्वेषण कर दिया है उगने मृष्टि की एवात्मता का आध्यात्मिक गन्ध मिट्ट होता है। वैज्ञानिक आइन्स्टीन भी अपनी मृत्युना में एक ईश्वर का अस्तित्व माना है।

हाँ, विश्वदोष द्वारा जो ईश्वर-दर्शन होता है वह जीवन को पर्याप्त

बनाता है, किन्तु जो केवल कही-हीने के सिरे ही ईश्वरपत्नी है, उसे हाथ मगान में हाथ और पायाचार में पाया है। मन्वावस्था को देखकर ईश्वर विस्मय हो गये। जो विश्वव्यापक है वे तो मानते हैं, वे अविनाशक को क्या जानें? अविनाशक का अनादय मात्र नहीं, इन्द्रिय मानव और अविनाशक के बीच ईश्वर की प्रतिष्ठाता की गई, अर्थात् प्रति के गोचरों और अचरों के बीच एक थोड़ा अन्तरा प्रतिष्ठाता बनाया गया। मनुष्य ने तो मानव हो जाय और न अविनाशक, अर्थात् भोगयोग के मनुष्य के साथ जीवन का एक चरण को, इसी हेतु ईश्वरवाद है।

गुप्ति का वह एक आदिम युग था, जब प्रागमिकाय कल्पनाम अन्तर्गत था। दूर अन्तर्गत की बात तो दूर, हम स्वयं अपने निचे ही एक शिखर थे, हमें मानी ही प्रवृत्ति पर मनाय था। उग विस्मय और मानव के बाधुमन्त्र में हमने तर्क के तीर चलाये। तर्कवाद से पीछे होकर हम आत्मोपचार के लिए महयोग की शोख में निचले। इच्छा हुई, कोई हमें सहाय दे, कोई हमारे मौगुओं को समझे। इन्हीं कोमल आकाशवाणी ने समाज बनाया। सामाजिक रूप में ही भारत ने हमें मान्य को जाना—'एकोऽहं बहु स्याम्।' हमने अपनी सत्यता पर विश्वास करके ही जाना कि जंगे हम अनेक हैं, वैसे ही हमने परे कोई एक भी है। यह विश्वास ही हमारा स्वभाव बन गया, हमारा स्वभाव ही काव्य बन गया।

जहा तक है, वहाँ सदाय और अविस्वास है। आज जो कुछ विश्वास रूप में शेष रह गया है, वह अनेक तर्कों और अनेक सत्यों के लोक-मन्यन से प्राप्त मौस्तुभ मणि है। यह हमें फूलों और मशानों की भाँति सुलभ हुआ है, वह हमारे रुखे-सूखे जीवन को नन्दन-वन बनाने के लिए है।

मनुष्य ने अपने निरन्तर के विकास से जो जीवनाधार पाया, वह तर्क ही, भाव है। तर्क जहयुग की वस्तु है, भाव विकसित मानवयुग का सत्य। राव के क्षेत्र में यदि तर्क अपनेको आधुनिक युग का विचारक सिद्ध करे तो यह उसका अनधिकार और अत्याचार होगा, अन्धकार का प्रकाश पर आक्रमण होगा। सत्तार में जहाँ जो कुछ भी भाव है, काव्य है, विश्वास है; वहाँ तर्क

गुजारा नहीं। उसका स्थान विज्ञान में हो सकता है, जहाँ एक अधिकार को पार करने न करने हमारा अंधकार घटाटोप समस्या बनकर अभावस्था के अन्ध आचान की भाँति अछोर फैला रहता है। आर्य्य भारत ने अपना स्वभाव, अपना दिव्यमान विज्ञान की सम्पन्न सीमाओं को पार कर ज्वलन्त किया है। भारत तार्किक नहीं, चिरजिज्ञासु है। विज्ञान की सर्वदृष्टि आकाश के बुद्ध-अंधकार पर पड़ी, भारत के जिज्ञासु-नेत्रों ने कहा—अन्धकार तो। माया की मधन-छाया तो है, चिन्तु इन उदुगणों में किमके अन्तर्लोचन जगता रहे हैं।

म जानें मशार्फों से कौन
निमग्नण देता भुक्तों को मौन

इस माया में कौन घेतन जाग रहा है? भारत की जिज्ञासा चिर-सजग की ओर बढ़ी, उसने अभावस्था के बुद्ध के बाद धारद का पुनो देखा, मानो अहमने हुए सच्चिदानन्द के स्वर्ग को देखा। उसने विज्ञान से ऊपर उठा उमी स्वर्ग में गूहम्य होकर विहार किया। उसने विहार किया, विलास ना वह जगा रहा, सोया नहीं। जब जब उसने अलगा कर मोना बाहा, तब। उसके बवियों में उसे जगाया। भारत ने आरमजागृति प्राचीके उस स्वर्णप्रभ में पाई थी, जिसे हम अपनी सम्पत्ता के इतिहास में सतयुग कहते हैं। सत्तकों और अविश्वामो को पार कर उसी स्वर्णप्रभात में भारत ने जन्म-ज का तत्त्व पा लिया था, उमी ब्राह्ममुहूर्त में उसने जीवन को जान लिया। और ज्ञान के सर्वोच्च गिखर में यह शुभ कामना की थी—'तमसो ज्योतिर्गमय।' २४

(४) अविश्वामो जीवन् ६

आर्य्य भारत अपने ज्योतिर्मय में आलोक्ति इहलोक में जीवन का खेलता है। शृणु ने आत्मिचोनी खेल कर दत्तला दिया है कि देखो, तिल एंगे खुलते हैं—प्रेम में वे मोहामय हैं, कर्तव्य में निर्मोही हैं। वे निर्मगमताएँ हैं, वे प्रेम-ओगी हैं। भारत इसी आदर्श के चरणों में अगमस्त जीवन का पाशार्थ देकर 'शृणुपणमस्तु' कह कर, विश्वार्थ

ना है। इसी कारण हमारे जीवन में मनोरमता और बबिता है।

हमारे प्रभु की झाँकी अर्द्धनारीश्वर की झाँकी है, पुरुष और प्रकृति संयुक्त व्यक्तित्व से पूर्ण होकर वह अपनी लोक-लीला का विस्तार करता है। अपनी दाम्पत्य इकाई से हम प्रभु की ही लीला का प्रसार करते हैं, सोलिये हम वैष्णव हैं। वैष्णव भारत अपनी गृहस्थी में एक ओर तो भी है, दूसरी ओर सेवक। प्रेमी के रूप में हम पारिवारिक प्राणी हैं, प्रतिपि-सेवी के रूप में लोक-संग्रही] कृष्ण-नाट्य और राम-नाट्य में हमारे सभी द्विविध जीवन को व्यक्त किया है। कृष्ण-नाट्य ने हमें दाम्पत्य प्रेम दिया है, रामनाट्य ने विश्वप्रेम।

अन्ततः गृहस्थ जीवन ही हमारा सर्वस्व नहीं है, हमारा सर्वस्व है विश्वजीवन। गृहस्थ स्रिताओ के रूप में हम उसी विश्वजीवन के समुद्र की ओर अग्रसर होने रहते हैं। सामाजिक अस्मामन्त्रस्य से जब सत्कार का एक प्राणी राम-रम करता है और दूसरा बाढ-आढ आँगू रोता है, तब हमारा यह कर्तव्य हो जाता है कि हमारे गृहस्थ जीवन ने जो सुख-दुख पाया है उगकी अनुमति से दूसरों के सुख-दुख को भी समझें, दूसरों के सुख-दुख में हाथ बटावें। गीता के अनुसार —

आत्मोपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योर्जुन।

शुलं वा यदि वा दुलं स योगी परमो मतः ॥

हम अपने ही राग-रंग में मगीर्ण और अनुदार न हो जायें, यही लोक-संग्रह का पथ है। जो अपनी ही स्वार्थ-युद्ध में व्यस्त है, वह वैष्णव नहीं। वैष्णव अपने सच्चिदानन्द के तरह बाटकर रह्य करता है।

तरह बाटकर रह्य करता है।

निर्गुण कबीर ने, जिसने गमयन लोचनीय को सिखाया है उसे भी जीवन में मनेशना की ही लौकिक तर्कों में गवोगम लगाया है—

भुलका का देगा करण में

तोरे दया-धर्म नहि मन में ।

इस प्रकार हमने कल-रंग को छोड़ देने पर भी वैष्णव जीवन के मार्ग प्रथम किया ।

[जहाँ योगिक और सांगिक के प्रयोग में मनुष्यता के लिये हृदय जगता है हृदय का वह आभरण ही एक धर्म है । उस धर्म का रंगोद्रेक करण नाम है । किसी मजहब को न मानने हुए भी हम गढ़ानुभूति की भूमि (हृदय) में पार्थिवता (गमष्टिवादी) रह गये हैं । आज हमारी वह भूमि तो गरीब है हमें उसे पाना है—साहित्य और समाज की मरभेगन अभिव्यक्तियों द्वारा ।

हमारे वाच्य साहित्य में सांख्यदानन्द का कदनामय स्वरूप ही लोच-संग्रह का परमात्म रूप है । जब कोई सम्प्रदाय अपने प्रभु के कदनामय दुर्तियों को गुलीकर उनमें अपने सांख्यदानन्द की छाँकी नहीं उतारता, तब सन्ने वैष्णव मानवता की पुकार सुनाते हैं । इस युग के सर्वश्रेष्ठ वैष्णव बापू वही पुकार सुना रहे हैं ।

जा अनु ओ २६२२ ओ २६२२
(५)

वैष्णवकाव्य रहस्यवादमय है । रहस्यवाद दो प्रकार का है — एक पार्थिव, दूसरा अपार्थिव । सगुणोपासक कवि पार्थिव रहस्यवादी है, दूसरे शब्दों में इन्हें हम छायावादी कह सकते हैं जो सृष्टि के कण-कण को इसलिये प्यार करते हैं कि उनमें उन्हें अन्तश्चेतन की अनुरागिनी छाया मिलती है । वे जीवन के एक मिस्टिक रिपलिज्म (रहस्यवादी यथार्थवाद) के कवि हैं ।

सगुण-काव्य में पार्थिव भावों के अवगुण्डन से अपार्थिव सत्य का सौन्दर्य जगमगा रहा है । इस अवगुण्डित आध्यात्मिकता के कारण हमारे

तब जाने लग ही की भाषा' के अनुसार वे उन वाच्यको ग्रहण कर लेने हैं। किन्तु अनापित्र रहस्यवाद भावक गृहस्थ की चीज नहीं, वह मानियों की चीज है। वह गृहस्थों के बहि की नहीं, मन्त्रों की बानी है। मन्त्रों ने अपनी बानी में तब के रूप-रंग को नहीं ग्रहण किया, वे केवल मन्त्र या मन्त्र को ग्रहण कर लिये हो गये। इस प्रकार आध्यात्मिक चेतना के प्रकाशन के लिए हमारे मत्तिन-वाच्य में एक और निर्गुण मिश्रितमिश्र है, दूसरी ओर सगुण-मिश्र-मिश्र। सगुण-रहस्यवाद (छायावाद) में प्रेम और भक्ति है, निर्गुण-रहस्यवाद में केवल भगवद्भक्ति। एक में लौकिकता और अलौकिकता दोनों हैं, दूसरे में केवल अलौकिकता।

तुलसीदास का छायावाद तथा निर्गुण मन्त्रों का रहस्यवाद कृष्ण-वाच्य की प्रतिक्रिया-जा है। लौकिक तृष्णाओं के लिए ही जब कृष्ण-वाच्य का दुरनयन होने लगा तथा गृहस्थों ने माधुर्य को ही प्रधानता देकर लोक-धर्म को बहा दिया, तब उन्हें चैन्य करने के लिए तुलसी ने राम-वाच्य द्वारा प्रभु के लोकमगही-नकरूप का दर्शन कराया। उन्होंने गार्हस्थ्यिक जीवन की कदरना देवकर गार्हस्थ्यिक जीवन की उपेक्षा नहीं की, बल्कि लोक-सेवी और त्याग-परायण गृहस्थ के रूप में सीताराम को उपस्थित कर हमारे लौकिक जीवन का संगोपन किया। किन्तु निर्गुण मन्त्रों ने गृहस्थ जीवन की कदरना में माया का अविचार ही अविचार देखा। उन्होंने उसके संगोपन का नहीं, बल्कि मूलोच्छेदन का ही उपाय किया। गृहस्थों ने उनके माहित्य को उनका नहीं अपनाया, जितना तुलसी की रामायण को। मन्त्रों में कबीर और नानक इत्यादि ने गृहस्थों की भी प्रीति प्राप्त करने का प्रयत्न किया और गृहस्थों के दाम्पत्य भाव में माया और जीव का रूपक बांधकर उन्हें मायातीन होने का संदेश दिया। किन्तु वे जितने वैदिकान्तिक थे, उतने मनोवैज्ञानिक नहीं। सूर ने 'ममर-भीत' में गृहस्थों के मनोवैज्ञानिक घात-प्रतिघात दिखाकर उनकी सौन्दर्य-लाजसा को ऊधो के तर्कवाद पर विजयी बना दिया था। ठीक ऊधो की भाँति निर्गुण भी उदासी हो गये थे। किन्तु तुलसी ने गोपियों की विजय स्वीकार की।

उन्होंने रामायण को भीताराम के रूप में अपनाया । रामायण के रूप में ही क्यों नहीं ? कृष्ण-काव्य का दुःखयोग ये देग शुरू थे । तुलसी ने निर्गुणों का लक्ष्य एक ही था अर्थात् जीवन में परमचेतन की अनुभूति आत्मा द्वारा एकमात्र परमात्मा की प्रीति । किन्तु कृष्ण-काव्य के दुःखों के साथ ही तुलसी निर्गुणों की वैज्ञानिक विकसलता भी देग शुरू थे, अतः कृष्ण-काव्य की भाँति उन्हें भी मनोवैज्ञानिकता द्वारा ही अपने निर्गुण रूप को धारण रूप देना पड़ा, यद्यपि उनका उद्देश्य कृष्ण-काव्य से भिन्न था । तुलसी की विभगी शांकी गार्हस्थिक जीवन की मनोहरता के लिए सर्व प्रीतिकर तो थी—

कहा कहूँ छवि आज की भले बने हो नाथ !

किन्तु—

तुलसी मस्तक जत्र नवें घनुष-बान लेहु हाथ ॥

देव-काल के जिस वातावरण में लोक-सब्रह्म का आदर्श वे उद्दिष्ट करना चाहते थे, उसके लिए उनके प्रभु को घनुष-बान हाथ में लेना आवश्यक था । कृष्ण-काव्य की उपेक्षा राम-काव्य में तुलसी ने जिस विधान क्षेत्र को अपनाया, उसी के अनुरूप उस काव्य के लिए विशद मनोवैज्ञानिकता और प्रशस्त कलात्मकता की उन्हें रससिद्धि करनी पड़ी । मनोवैज्ञानिकता ने उनके काव्य को निरवस्त बनाया, कलात्मकता ने उनके काव्य को मनोरमतापूर्वक मर्मस्थ किया ।

(६)

जैसा कि निवेदन किया है, तुलसी और निर्गुणों का लक्ष्य एक था, किन्तु तुलसी का कर्ममय होकर, निर्गुणों का ज्ञानमय होकर । कृष्ण-काव्य के भीतर जो अद्वैतवादी वैष्णव थे, यथा नन्ददास इत्यादि, उन्होंने भी अपने निर्गुण-प्रसंग में गीता के कर्मयोग का सकेत किया था । हाँ तो, तुलसी कर्मयोग के कवि थे, निर्गुण ज्ञानयोग के सन्त । ज्ञानयोग के प्रति राम-काव्य की उपेक्षा नहीं थी माधुर्यभाव प्रधान कृष्ण-काव्य की थी । तुलसी के हृदय में उन ज्ञानयोगियों के लिए सम्मान था, जिन्होंने बिना

लौकिक माया में फंसे ही परमतत्त्व पा लिया था। इसीलिए उन्होंने अपने मुँह के मुख से कहलाया है—

ज्ञानी मोहि विजोय प्यारा ।

किन्तु वे उस परमतत्त्व को जानियो तक ही सीमित न रखकर, साक्षात्-रूपको तक पहुँचाना चाहते थे। वे महाकवि थे, उनकी कला-रुचि ने जीवन को केवल एक जीवित-श्मशान के रूप में ही देखना नहीं पसन्द किया। महादमयान (महानिर्गुण) जीवन के जिन अनेक परिच्छेदों का अन्तिम परिच्छेद है, तुलसी के नाटकीय और औपन्यासिक कलाकार ने उन पूर्व परिच्छेदों को भी छलककर देखा। उन्होंने जीवन को अयोध्या के राज-प्रासाद में, जनकपुर की फुलवारी में, चित्रकूट की वनस्थली में, केवट की नाव में, शबरी के जूटे बेर में, लवण के महायुद्ध में देखा। इन परिच्छेदों के अस्तित्व पर ही अन्तिम परिच्छेद (श्मशान) का मूढम सत्य या सत् अवलम्बित है। वह सार इसी समार का नवनीत है, वह रस यही के झूल-फूलों का निचोड़ है। यदि कर्म-फल नहीं तो प्रेम का फूल वहाँ, यदि फूल नहीं तो अम्यन्तर का रस वहाँ। अतएव रस के लिए सम्पूर्ण लौकिक उपादानों का सघन भी आवश्यक है, जनक की तरह विदेह होकर, जिन्होंने आत्मा के रस को—

‘भोग-योग भई राखहि थोड़ी’ ।

यह उसी के लिए सम्भव है जो ज्ञानी और कर्मयोगी दोनों ही हो। तुलसीदास ने अपने राम-नाम्य में ज्ञानयोग को ही कर्मयोग में मूँस दिया था। ज्ञान के आधार के लिए उन्होंने कर्म को लौकिक स्वरूप दिया था—

कर्म प्रधान विद्व करि राखा ।

जो जस करे सो तस फलि पाखा ॥

माय ही वे ईश्वरवादी भी थे, इसीलिए उन्होंने यह भी कहा—

जो करि सकं बढ़ावहि माखा ।

होइहं वही जो राम रचि राखा ॥

मनुष्य विद्वत्पूषक, सक-रहित होकर कर्म करे, फल भी बिना

हम मानते हैं। संस्कृत साहित्य में साहित्यिक का जीवन नहीं है, किन्तु कवि साहित्यिक जीवन में है। साहित्यिक ने साहित्यिक जीवन को व्यवस्था नहीं की है, बल्कि उसे साहित्यिक में ही समाहित कर दिया है, साहित्यिक का को साहित्यिक व्यवस्था में ही समाहित किया है। जिम्मेदार ने जिम्मेदार व्यवस्था, मनुष्य ने जिम्मेदार व्यवस्था, साहित्यिक साहित्यिक ने उसे प्रकृतिक व्यवस्था। जिम्मेदार को व्यवस्था को, मनुष्य को प्रकृतिक-व्यवस्था को, उगते व्यवस्था में समाहित किया। मनुष्य ने भी यही व्यवस्था था, किन्तु जीवन में जीवन को करने के लिए, वह कि साहित्यिक जीवन के प्रति अनुभवी को है, वह साहित्यिक जीवन है, सामाजिक जीवन में वह साहित्यिक समाज को व्यवस्था है। मनुष्य व्यवस्था निम्नोक्त का ही माध्यम था था, वह निम्नोक्त का परिवार था। उन्हीं प्रकार वर्तमान साहित्यिक समाज का परिवार है। दोनों परिवार अपने-अपने समय में रोमान्टिक हैं।

अज्ञान का ५

मध्यकाल में मनुष्य-व्यवस्था का जो दुर्लभोपयोग हुआ था उगता कारण यह है कि मनुष्य और प्रेम साहित्यिक हो गये थे। विज्ञानीय पराधीनता में जिम्मेदार प्रकार हमारी मनुष्यिक मनुष्यिक हो गई थी, उन्हीं प्रकार हमारे मनुष्यिक को मनुष्यिक भी। साहित्यिक, मनुष्यिक, जीवन का यही रमणीय रूप हो रहा गया था। मनुष्य और प्रकृति का साहित्यिक जीवन (विस्तृत मनुष्यिक) विदेशी सन्तान (भौतिक ऐश्वर्य) की ओर में ओझल हुआ गया था। विदेशी सन्तान ने अपनी जिम्मेदार बला की छाप हमारी बला पर डाली, वह बला ऐश्वर्यिक थी। धृगारी बलियो ने उस बला को, उस सत्ता को अपनाया। किन्तु युगों के आर्य्य घोषित ने उस पर साहित्यिक का धृगारी रंग चढ़ाये रखा। साहित्य में धृगारीक सत्ता से हमारे सामाजिक सत्ता को मूल और तुलसी ने जिम्मेदार लगन से जगाया, उसी व यह सुफल था कि ऐश्वर्यिक बला के वातावरण में रहने हुए भी धृगारीक बलियो ने साहित्यिक का स्मरण बनाये रखा, जब कि मूल और तुलसी का और मूल रूप में विज्ञानीय समाजतन्त्र के प्रभाव से अप

को अलग रंगपर ही हमारे साहित्य में बँपव बला को विन्दन बसि दे सके ।

मुष्ययुग में दाम्पत्य-भाव गलट में पड़ गया था । विजातीय संस्कृति अपने राद्गुणों के साथ ही अपनी विलासिता भी ले आई थी । हमारे दाम्पत्य का जो मनीष्यपूर्ण आदर्श था, विजातीय रीति-नीति उन्ने निषी, उसमें मानवी स्तरजन के लिए विशेष नियन्त्रण न था । नृदितियों के विलासिता के कारण जनसाधारण के लिए निदिबन्त गार्हस्थिक जीवन दुर्लभ था । कलत्त बँपव गृहस्थों की जो दाम्पत्यिक भूख थी वह शृंगारी कवियों की राधाकृष्ण-मूलक कविताओं में प्रकट हुई । राधाकृष्ण की साक्षियों के हमारे सामाजिक जीवन में विजातीय रीति-नीति की बाढ़ को नवीन युग आने तक मिट्टी के बांध (पारिरीक सौन्दर्य) से रोक । तत्कालीन वेदा-भूपा की भाति उन्होंने अपने काव्य में भी कुछ कलाविन्यास शास्त्र-जाति से लिये, किन्तु आत्मा (सस्कृति) यथासक्ति अपनी ही रखी । हम तो अपने उन कवियों को बघाई ही देंगे कि उन्होंने अपनी कविता को सर्वांशतः विजातीय ही नहीं बना डाला, बल्कि गृहस्थों के हृदय में राधा-कृष्ण की प्रेम-प्रतिभा हनुमान् के हृदय में राम की मूर्ति की भाति स्थापित कर रखी । उनकी कविताओं में जो अतिरजकता (उत्कट शृंगार) है वह नैतिक न्याय-मुला पर तौलकर नीति-विवेचन की चीज नहीं, बल्कि वह कला और इतिहास-विवेचन की चीज है । सूर और तुलसी की भाति यदि उन्होंने भी कोई दार्शनिक सत्य प्रकट किया होता तो उसका नैतिक विवेचन भी हो सकता था, किन्तु जो उनका क्षेत्र नहीं, उन्हें उस क्षेत्र में रखकर देखना गुलाब को सरोवर में देखना है । अतएव, कला की दृष्टि से उनमें जो च्युति दीख पड़े, साहित्यिक सत्य के उद्घाटन के लिए उसी का विवेचन होना चाहिए । अस्लीलता उस युग की वह विकट प्यास है, जिससे विजातीय परिस्थितियों के कारण हिन्दू दाम्पत्य भाव का शारिद्वध प्रकट होता है, अतएव शृंगारिक कवि महानुभूति के पात्र हैं ।

मदिरा से जंसे गला सूख जाता है उसी तरह विलासिता से सामाजिक

एक दृग्मे लोच नही, लोकाभाग है समुद्रभाग नही अन्तराल है ।
 दर्शना दानों वाग्दामुनी की वग्ग में भी अन्तर है । आर्य-दाम दानों
 की ही वग्ग में है, विष्णु गुण की और लयायादिया की आर्य-दाम में
 महात्मा गांधी और बरिबर रबीन्द्रनाथ टागोर की भागीदारी का
 अन्तर है ।

२११६६६६६ ६१३७

(मनुष्य की तरह साहस्य भी आदान-प्रदान करने हुए चलता है,
 व्यक्ति-वर्णन मनुष्य और व्यक्तिगतपूर्ण साहस्य, दानों अपने आदान प्रदान
 में एक आत्म-चेतना बनाये रखते हैं । वे अपने को या नही देखे, अन्ध-अनु-
 करणशील नही हो जाने, बल्कि वे अपने पूर्व और वर्तमान युग में अधिवाधिक
 प्रकाश ग्रहण कर अपने युग को भी समरणीय बना आते हैं ।) मध्यकाल

आदर्श आलोचना

में गुरु और गुलामी ने यह प्रकाश आने मनोसंछिन्न मंगल-मार्ग के
 प्रकाश दिया, इसीलिए उनमें मंगल भाव की स्वच्छ मंगल है। इन
 रियों में वृत्त-नाम्य और मुक्तिम भावना ने हम प्रकाश दिया, इन
 रण-प्रकाश में उनकी भाव-भेदना बहुत मंगल न रहे सही, इसीलिए
 गुरु और गुलामी की भांति उनमें भारतीय मंगल सारद्वयोंवा की
 भांति स्वच्छ न होकर एक धुंधली चांदनी-जैसी है अक्षय ।

वांगमन ही गद्दी, जिमी भी युग का गमाधान अनीत के सारद्वि
 कोण में भी है, जैसे 'गीता' में बन्धन का गार-अंत । कालावधि में जिस
 प्रकार मंगल्य का आधार-प्रकार अपने गमय का भौगोलिक स्वस्थ धार
 करणा है, उगी प्रकार कला संस्कृति के मूलतन्तु को बनाये हुए, देश-मान
 का मंगल्य ग्रहण करली है ।

इसी आधार पर मध्ययुग में धुंगारिक कवियों ने मुस्लिम कला से
 आदान लिया था, आधुनिक युग में छायावादी कवियों ने अंगरेजी कला से ।
 अंगरेजी कला बीसवीं शताब्दी की विद्युत् की भांति जगमगाती हुई कला
 है । किसी भी राजग कला को ग्रहण करने में हमारी संस्कृति उदार है
 अपने को खो देने के लिए नहीं, बल्कि अपने अस्तित्व को सिन्धु-विस्तार देने
 के लिए । अपने में ग्राह्यवक्ति तभी आती है जब हम में अपनी संस्कृति
 और कला की क्षमता एक मूलधन के रूप में बनी रहती है । छायावाद के
 आधुनिक प्रवर्तकों ने अपना मूलधन संस्कृत और हिन्दी साहित्य से पाया
 है, नवीन शताब्दी के प्रकाश में नवीन वर्ण-जलदा से उसी को रूपान्तर
 दिया है । आदान उदान सार गुणवर्तन

साहित्य में जब-जब आदान चलेगा, तब-तब उस आदान में अपने
 मूलधन की ओर सकेत देने के लिए हमारे कुछ पूर्वज कवि हमें अपना
 सांस्कृतिक सन्देश भी सुनाते रहेंगे । मध्यकाल में सूर और तुलसी ने
 सांस्कृतिक संकेत दिया, आधुनिक काल में भारतेन्दु जी, गुप्त जी और
 प्रसाद जी ने, भारतेन्दु और प्रसाद ने अपने नाटकों में और गुप्त जी ने
 अपनी कविताओं में । यह अवश्य है कि इन साहित्यिकों का सामाजिक
 ढांचा पुराना है, जब कि आवश्यकता है सांस्कृतिक चेतना धारण करने के
 लिए नवीन शरीर की भी ।

महाकवि सूरदास

(ले० स्व० आचार्य रामचन्द्र दास जी) की परम्परा भी हिन्दुओं के स्वानन्द के साथ ही साथ बीरों ने अपने पराक्रम के बाल के अंधरे में जा छिपी। उम होन दशा के बी ना पर गहरी उदासी गीत किस मुह से गाते और किन बानों में गुनते ? ज बानी मुरझाए मन को छा गई थी। राम और रहीम को एक बताने वाली खरबाद का मुर मिला हृत्त म कर सही; क्योंकि उसके भीतर उम बट्टर एकैग आलो देख रहे थे। हुआ था, जिसका ध्वसकारी स्वरूप लोग नित्य अपन्याए रखने की वामना सर्वस्व गवाकर भी हिन्दू जानि अपनी स्वतन्त्र सत्ता बगचिर-मचित सत्कार मही छोड़ सकी थी। इसमें उमने अपनी सभ्यता, अपना, और उनकी भक्ति आदि की रक्षा के लिए राम और कृष्ण का आश्रय लिया जिस प्रकार बग देश का स्रोत देश के एक कोने से दूसरे कोने तक फैल गया। राय में परम भाव की में कृष्ण चैतन्य ने उसी प्रकार उत्तर भारत में वल्लभाचम कहते हैं, जीवन में उस आनन्दविधायनी कला का दर्शन कराकर जिसे प्रेम्हा लोक का सुख सरमता का संचार किया। दिव्य प्रेम-मगीत की धारा में गई। पक्ष निरतर आया और जमती हुई उदासी या खिन्नता वा की कठोरता में दब जयदेव की वाणी की स्निग्ध पीयूषधारा, जो कालपत होकर मिथिला गई थी, अववाध पाते ही लोकभाषा की सरसता में परिऔर आये बलकर की अमराइयों में विद्यापति के कोकिलकठ से प्रकट हुई बने लगी। आचार्यों ब्रज के करील-कुओं के बीच फैले मुरझाए मनो को सीन कीर्तन कर उठी, की छाप लगी हुई आठ बीणाए श्रीकृष्ण की प्रेमलीला का मूरदास की बीणा जिनमें सबने ऊंची, मुरीली और मधुर झकार अघे कहरिने लगे। निर्गुण की थी। ये भक्तकवि सगुण उपासना का रास्ता साफ वासना का हृदय उपासना की नीरमता और अघाह्यता दिखाते हुए ये उवा प्रेममय रूप हैं याही स्वरूप सामने लाने में लग गए। इन्हींने भगवान् ।

जिना, हमारे हृदय की कोमल वृत्तियाँ ने ही आश्रय और आश्रय गढ़े लिए।
 भाग जो इनके अनुपाती वृत्त-भाग हुए वे भी उन्हीं वृत्तियों में हीन रहे।
 हृदय की अन्य वृत्तियों (अंगार भाति) के रंजनरोगी बन भी यदि वे
 पादों को वृत्त में ही मिल जाते, पर उन्हीं ओर वे न बढ़ें। भगवान् का
 यह ध्येय स्वयं यद्यपि एवढेनीय था — वैयक्त प्रेम था — पर उन्हीं वृत्त
 में रास के कारण जगत् के हृदय में जीवन की ओर में एक प्रकार की जो
 अद्वितीय उल्लास हा रही थी उन्हीं वृत्तों में उल्लासों में उल्लासों में मनुष्य के
 शौचपूर्ण और भाष्यपूर्ण पक्ष को दिखाकर इन वृत्तोंवाक्य के अन्त
 कवियों ने जीवन के प्रति अनुराग जगाया, या कम से कम जीने की राह
 बनी रहने दी।

मानवकाल और जीवनकाल कितने अनोखे हैं। उनके बीच की गता
 मनोरम परिस्थितियों के बिना चित्रण द्वारा शूरदास जी ने जीवन की जो
 रमणीयता सामने रखी उन्हीं गिरे हुए हृदय भाष उठे। 'वाल्मीकि' और
'भृंगार' के शब्दों का जितना अधिक उत्पादन गूर ने अपनी बंद आँखों से
 केमा उतना किसी और कवि ने नहीं। इन शब्दों का कोना-कोना से शक्ति
 प्राप्त। उक्त दोनों रसों के प्रत्यक्ष रतिभाव के भीतर की जितनी
 मनसिक वृत्तियों और दशाओं का अनुभव और प्रत्यक्षीकरण सूर कर
 के उतनी का और कोई नहीं। हिन्दी साहित्य में भृंगार का रस
गर्व यदि किसी ने पूर्ण रूप से दिखाया हो सूर ने। उनकी उमड़ती
 बाप्यारा उदाहरण रचने वाले कवियों के समान गिनाए हुए संचारियों से
 कर चलने वाली न थी। यदि हम सूर के केवल विप्रलम्भ भृंगार को ही
 , अथवा 'भ्रमर-गीत' को ही देखें तो न जाने कितने प्रकार की मानसिक
 शाए ऐसी मिलेंगी जिनके नामकरण तक नहीं हुए हैं। मैं हस्ती को कवियों
 पहुँच कहता हूँ। यदि हम मनुष्यजीवन के सम्पूर्ण क्षेत्र को लेते हैं तो
 दासजी की दृष्टि परिमित दिखाई पड़ती है। पर यदि उनके चुने हुए शब्दों
 (भृंगार और वाल्मीकि) को लेते हैं तो उनके भीतर उनकी पहुँच का विस्तार
 अधिक प्रतीत है। उन शब्दों में प्रत्यक्ष मनुष्य का

रति वा नहीं। बात यह है कि मूर को 'गीत-वाच्य' की जो परम्परा (चण्डेव और विद्यानति की) मिश्री बहु शृंगार की हो थी। हमी में मूर के गीत में भी उनकी प्रधानता रही। दूसरी बात है उपासना का स्वरूप। मूरदामजी बल्लभाचार्य के शिष्य थे, जिन्होंने भक्तिमार्ग में भगवान् का प्रेममय स्वरूप प्रतिष्ठित करके उनके आश्रमण द्वारा 'सामुज्य मुक्ति' का मार्ग दिखाया था। भक्ति-गायना के इस चरम लक्ष्य या फल (सामुज्य) की ओर मूर ने बहो बहो रास्ते भी किया है जैसे—

सीत लज्ज मुख कुच महि भानं, हानि भए कुछ सोच न राखै।

जाय समाय मूर या निधि में, बहुरि न उठति जगत में नाचै।

जिस प्रकार ज्ञान की चरम सीमा ज्ञाता और ज्ञेय की एकता है उसी प्रकार प्रेम-भाव की चरम सीमा आश्रय और अवलम्बन की एकता है। अतः भगवद्भक्ति की साधना के लिए हमी प्रेम-भाव को बल्लभाचार्य ने सामने रखा और उनके अनुयायी कृष्ण-भक्त कवि हमी को लेकर चले। गोस्वामी तुलसीदासजी की दृष्टि व्यक्तित्व साधना के अतिरिक्त लोचपक्ष पर थी, इसी से वे मर्यादा पुण्योत्तम के चरित को लेकर चले और उनमें लोक-रक्षा के अनुकूल जीवन की और और बुनियादों का भी उन्होंने उत्कर्ष दिखाया और अनुरजन किया।

उन प्रेमभाव की पृष्ठ में ही मूर की वाणी मुख्यतः प्रयुक्त जान पड़ती है। रतिभाव के तीनों प्रबल और प्रधानरूप—भगवद्विषयक रति, वात्सल्य और दाम्पत्य रति—मूर ने लिये हैं। यद्यपि पिछले दोनों प्रकार के रति-भाव भी कृष्णोन्मुख होने के कारण तत्त्वतः भगवत्प्रेम के अन्तर्भूत ही हैं पर निरूपण-मंद में और रचना विभाग की दृष्टि से वे अलग रखे गए हैं। इस दृष्टि से विभाग करने से विनय के जितने पद हैं वे भगवद्विषयक रति के अन्तर्गत और आवेग; बाललीला के पद वात्सल्य के अन्तर्गत और गोपियों के प्रेम सबधी पद दाम्पत्य-रति-भाव के अन्तर्गत होंगे। हृदय से निकली हुई प्रेम की इन तीनों प्रबल धाराओं में मूर ने बड़ा भारी सागर भरकर तैयार किया है।

विस्तार नहीं है जिसके भीतर नई-नई वस्तुओं और व्यापारों का सन्निवेश होता चलता है। लोक-सघर्ष से उत्पन्न विविध व्यापारों की योजना का उद्देश्य नहीं है, उनकी रचना जीवन की अनेकरूपता की ओर नहीं है; बाल-क्रीडा, प्रेम के रग-रहस्य और उसकी अतृप्त वासना तक ही गई है। जीवन की गभीर समस्याओं से सटस्य रहने के कारण जर्मन गीरता के अभाव से गोपियों के वियोग में भी वह गभीरता नहीं दिखाती जो सीता के वियोग में है। उनका वियोग खाली बैठे का काम था ही पड़ता है। सीता अपने प्रिय से वियुक्त होकर कई सौ कोस दूर दूसरे द्वीप में रावण के बीच पड़ी हुई थी। गोपियों के गोपाल केवल दो बार कोस दूर के एक नगर में राजमुख्य भोग रहे थे। सूर का वियोग-वर्णन वियोग-वर्णन के लिए ही है, परिस्थिति के अनुरोध से नहीं। कृष्ण गोपियों के साथ क्रीडा करते-करते किसी कुज या झाड़ी में जा छिपते हैं; या यों नहिए कि थोड़ी देर के लिए अन्तर्धान हो जाते हैं। बस, गोपियाँ भूँजि कर मिर पड़ती हैं। उनकी आत्मा से आमुखाँ की धारा उमड़ चलती है। वियोग-दशा उन्हें आ घेरती है। यदि परिस्थिति का विचार करें तो वियोग-वर्णन असंगत प्रतीत होगा। पर, जैसा कहा जा चुका है, रस-प्रबन्ध-काव्य नहीं है जिसमें वर्णन की उपयुक्तता या अनुपयुक्तता वर्णन में घटना या परिस्थिति के विचार का बहुत कुछ योग रहना है पारिपरिक और सामाजिक जीवन के बीच हम सूर के बालक १० थोड़ा बहुत देखते हैं। कृष्ण के नेत्र बाल-चरित्र का प्रभाव मनुष्य-जाति आदि परिवार के लोगों और पशुपियों पर पड़ना दिखाई देता है। सूर का बाल-क्रीडा-वर्णन ही पारिवारिक जीवन में सम्बन्ध है। कृष्ण के छोटे-छोटे पैरों में चलने, मूँह में मल्लन लिपटाकर भागने या इपर-उपर नटगली करने पर मन्द बाबा और यमोदा भैया का कभी पुनरित होना, कभी सीतला, कभी पशुपियों का घेब से उछाहना देना आदि काँच एक छोटे से जन-समूह के भीतर आनन्द का लहर करती दिखाई नहीं दे। यही

दान दान दान, धन धन धन,
 नरि नरि नरि, नरि नरि नरि।
 नरि नरि नरि, नरि नरि नरि, *नरि नरि नरि*
 नरि नरि नरि नरि नरि नरि नरि ॥
 नरि नरि नरि नरि नरि नरि नरि,
 नरि नरि नरि नरि नरि नरि नरि।
 नरि नरि नरि, नरि नरि, नरि नरि,
 नरि नरि नरि नरि नरि नरि नरि ॥

पर जैसा कहने का रीति है, मन्त्रों और श्रुतों और दानों की ही है। मन्त्रों के मन्त्रों की रीति का रीति का रीति का रीति का रीति है।

यही बात कि मूल की रचना की सामान्य दृष्टि में समझा हुई।
 जब इन मन्त्रों की इन श्रुतों का थोड़ा बहुत शिष्टांत होता
 चाहिए, जिनके कारण हिंदी-भाषा में इनका स्थान इतना ऊँचा है।
 ध्यान देने की गद्य के फार्म का यह है कि चर्चा हुई ब्रजभाषा में गद्य के
 पहिले साहित्यिक दृष्टि इन्हीं की मिल्ती है, जो अपनी पूर्णता के कारण
 भाषा में हाथ देती है। पहिले साहित्यिक रचना और इनकी प्रचुर,
 प्रगल्भ और साध्यापूर्ण हि अगले कवियों की श्रुतों और दानों
 चर्चा इनकी जूझी जान पड़ती है। यह ध्यान हिंदी-भाषा का इतिहास
 लिखनेवालों को उत्पन्न में उत्पन्नवाली होगी। सुरमावर किसी पहले से
बली आती हुई परम्परा का—प्राये इह मंगिरि ही रीति हो—पूर्ण विकास
का जान पड़ता है, प्रायेवाली परम्परा का मूल रूप नहीं

यदि भाषा को लेकर देखने हैं, तो वह ब्रज की चर्चा बोली होने
 पर भी एक साहित्यिक भाषा के रूप में मिलती है, जो और प्राचीन के कुछ
 प्रचलित शब्दों और प्रत्ययों के साथ ही साथ पुरानी काव्य-भाषा अप-
 भ्रंश के शब्दों की लिये हुए है। मूल की भाषा बिल्कुल बोलचाल की ब्रज-
 भाषा नहीं है। 'आओ', 'तानी', 'वाओ', चली ब्रजभाषा के इन रूपों
 के समान ही 'जैहि', 'तेहि', आदि पुराने रूपों का प्रयोग बराबर मिलता है,

जो अन्धगी की घोंगलान में तो अब तक हैं, पर प्रेम की बोधवान में दूर है
 समय में भी नहीं थे। 'गुगने' निरुपधारक 'पं' का व्यञ्जक भी पाया
 है, जैसे, 'जाहि' एवं 'गोई' न जाने प्रेम-यान अनियारों। 'गोई', 'जाल',
 'हमार' आदि प्रयोग भी बराबर, पाए जाते हैं। कुछ प्रयोगों में
 भी मौजूद हैं, जैसे, महगी के अर्थ में 'प्यारी' शब्द। ये सब बातें एक साथ
 काव्य-भाषा के अस्तित्व की गूणना देती हैं।

अब हम मशोप में उन प्रयोगों को लेते हैं जिनमें मूर की प्रतीति
 पूर्णतया लीन हुई है। कृष्ण-जन्म की आनन्द-बर्षाई के उपरान्त ही बाल-
 लीला का आरम्भ हो जाता है। जितने विस्तृत और विराट रूप में
 बाल्य-जीवन का चित्रण दत्तोंने किया है, उतने विस्तृत रूप में और किसे
 कवि ने नहीं किया। दंतव्य से लेकर कौमार अवस्था तक के क्रम से
 लगे हुए न जाने कितने चित्र मौजूद हैं, उनमें केवल बाहरी रूपों और
 चेष्टाओं का ही विस्तृत और सूक्ष्म वर्णन नहीं है, कवि ने बालकों की
 'बन्त प्रकृति' में भी पूरा प्रवेश किया है और अनेक बाल्य-भावों की सुन्दर
 स्वाभाविक व्यञ्जना की है। देखिए, 'स्पर्धा' का भाव, जो बालकों में
 स्वाभाविक होता है, इन वाक्यों से किस प्रकार व्यञ्जित हो रहा है—
 भैया कबहिं धड़ंगी छोटी ?
 कित्ती धार मोहि दूय पिअत भई, यह अजहूँ है छोटी ।
 तू जो कहति 'बल' की बेनी ज्यों हबैंहें लांबी मोटी ॥

बाल-चेष्टा के स्वाभाविक मनोहर चित्रों का इतना बड़ा भांडार
 और कहते नहीं हैं जितना बड़ा मूरसागर में है। दो-चार चित्र देखिये—
 (१) कत ही आरि करत मेरे मोहन यो तुम आंगन लोटी ?
 जो मागहुं सो देहुं मनोहर, यह बात तेरी लोटी ।
 मूरदात को ठाकुर ठाकुर हाथ लहुटि लिये छोटी ॥
 (२) सोभित पर नवनीत लिए ।
 मुदरन चलत, रेनु तन मंजित, मुख दधि लेप किए ॥

(३) मित्रजन घनत जमोना घेया ।

आदरान हरि पतिन गानन, इगमनाय घरं पैजा ।

(४) पाटनो हरि हं तनय मल्लो ।

आरि बरं मनमोहन मेरो, अंदर आनि गल्लो ।

ध्यातुन मयन मयनिनी रीनि, दयि ग्वे दारकि रह्यो ।

हार-जोन के रंग में बाटनो के 'खोन' के रंगे व्याभाविक ।
नै रंगे हं—

रंगन में जो काहो गोमंज ।

हरि हारे, जीने थीदामा, घरवन ही बन करत रितंज ।

जानि-रानि हमनें बटु नाहि, न यमन तुम्हारी छंज ।

अनि अधिकार जतावत धाने अधिक तुम्हारे हं बटु गंज ।

अब यहा पर थोडा इगमा भी निजंय हो जाना चाहिए कि इन टाओ का बाध्य-विधान में क्या स्थान होगा। बास्म्य रम के अलक वृष्ण आलम्बन हाग और नन्द या यशोदा आश्रय। अत ये के प्रभव के अन्तर्गत आती हैं, पर आलम्बनगन चेष्टायें उद्दीप्त के ही । सचनी हैं। हमने यह स्पष्ट है कि ऐसी चेष्टाओं का स्थान भाव-विहीन भीतर है। उन्हें अलवार-विधान के भीतर घसीटकर 'स्वभावोत्पन्न' कहना मेरी गमज में ठीक नहीं। ✓

बाद-लीला के आगे फिर उस गो-चारण का मनोरम दृश्य होता है जो मनुष्य-जानि की अत्यन्त प्राचीन वृत्ति होने के कारण। शी में बाध्य का प्रिय विषय रहा है। यवन देश (यूनान) के 'पदुन-प्य' (Pastoral Poetry) का मधुर स्कार युरोप की कवित्व तक कुछ-न-कुछ चला ही जाता है। कवियों को आकर्षित करने के लिए जीवन की सदमे बड़ी विशेषता है प्रकृति के विस्तृत क्षेत्र में विचलने सबसे अधिक अवकाश। वृषि, वाणिज्य आदि और व्यवसायों चलकर निकले, वे अधिक जटिल हुए—उनमें उतनी स्वच्छ नहीं। कविश्रेष्ठ कालिदास ने अपने रघुवंश बाध्य के आरम्भ में लि-

मनोहर

को गोपियों के साथ सम्बन्ध विरह-दुःखों मग्न होकर रहने का व्रत
 रखा है। मृन्दावन में वे कल्याण के कल्याण के बीच गोपियों के
 सुन्दर-सुन्दर दुःखों का दिवान किया है। यथा—

मनोहर ! मन्दिर राज टेरत ।

मोहों बन-बन-सोरि देत हैं, आनन्द मग्न घेरत ।

✓ मृन्दावन पर किसी बड़े पंड को मीठ-छाया में बैठ कर गीत
 सुना रहे हैं दाढ़ बर साउ है, मनोहर-उपर दोड़ने है। कहीं
 बिन्नाडा है—

इस घड़ि बरत न टेरत, बान्हा, गैनी दूर गई ।

घाई आनि सनन के आगे जे बृन्नान गई ॥

✓ "जो बृन्नान" : : : : : अच्छा परिचय
 है। मने सृष्टे पर आदि हुई गायें बहुत दिनों तक चंचल रहती हैं और
 का उद्योग करती हैं। इसी न बृन्नान की दी हुई गायें चरते समय भी
 मदी होती हैं और कुछ दूसरी गायें भी स्वभावानुसार उनके पीछे
 पड़ती हैं।

मृन्दावन के सभी मुखमय जीवन के हास-परिहास के बीच
 के प्रेम का उदय होना है। गोपिया कृष्ण के दिन-दिन खिलते हुए
 और मनोहर चेष्टाओं को देख मुग्ध होती चली जाती हैं और कृष्ण
 अवस्था की स्वाभाविक चपलतावश उनसे छेड़-छाड़ करना आरम्भ
 है। हास-परिहास और छेड़-छाड़ के साथ प्रेम-व्यवहार का अत्यन्त
 विक आरम्भ मूर ने दिखाया है। "किसी की रूप-वर्चा मुन, या
 किसी की एक झलक पाकर हाय-हाय करते हुए इस प्रेम का आरम्भ
 हुआ है। नित्य अपने बीच चलते-फिरते, हसते-बोलते, वन में गाय
 देखते गोपिया कृष्ण में अनुरक्त होती हैं और कृष्ण गोपियों में
 हम जीवनीत्सव के रूप में पाते हैं; सहसा उठ खड़े हुए
 विप्लव के रूप में नहीं, जिनमें अनेक प्रकार के प्रतिबन्धों
 लम्बी-सीधी कथा खड़ी होती है। सु

कृष्ण और गोपिया पशियों के समान स्वच्छन्द हैं। वे लोक-बन्धनों से बंधे हुए नहीं दिखाये गये हैं। जिस प्रकार के स्वच्छन्द समाज का स्वप्न अंग्रेज कवि शेली देखा करते थे उसी प्रकार का यह समाज सूर ने चित्रित है।

सूर के प्रेम की उत्पत्ति में रूप-लिप्ता और साहचर्य दोनों का योग बालक्रीडा के सखा-सखी आगे चल कर यौवन-क्रीडा के सगा-गगी होते हैं। गोपियों ने उद्धव से साफ कहा है—“लखिनाई को प्रेम कहो, कैसे छूटे?” बेचल एक साथ रहते-रहते भी दो प्राणियों में स्वभावतः हो जाता है। कृष्ण एक तो यात्यावस्था से ही गोपियों के बीच रहे, मुन्दरना में भी अद्वितीय थे। उन गोपियों के प्रेम का क्रमशः विकास आधुनिक शक्तियों के प्रभाव से होने के कारण बहुत ही स्वाभाविक होता है। बालक्रीडा इस प्रकार क्रमशः यौवन-क्रीडा के रूप में परिणत हो गई है कि सधि का पता ही नहीं चलता। रूप का आकर्षण यात्यावस्था में आरम्भ हो जाता है। राधा और कृष्ण के बिछोप प्रेम की उत्पत्ति ने रूप के आकर्षण द्वारा ही पड़ी है—

(क) खेलत हरि निकतो धन खोरी ।

गए दयाम रवि-तनया के तट, अंग रत्नति खंदन की खोरी ॥

औषक ही देखी तहँ राधा, नैन विखाल, भाल दिए खोरी ।

भूर दयाम देखत ही रीति, नैन नैन मिलि परी ठगोरी ॥

(ख) दूमत दयाम, “कौन तू, गोरी ।

कहा रहति, बाकी तू बेडी ? देखी नाहि बहूँ बज-खोरी” ॥

“कहे को हम बज तन आवति ? खेलति रहति आपनी खोरी ।

मुनति रहति अदनन नंद छोटा करत रहत मानन दधि खोरी” ॥

“जुहरी कहा खोरि हम लंहे ? खेलत चलो सग मिलि जोरी” ।

भूरदास प्रभु रतिव-तिरोमनि बातन भुरद राधिका भोरी ॥

एक खेल ही खेल में इतनी बड़ी आन पैदा हो गयी है कि प्रेम होते हैं। प्रेम का आरम्भ उमर पक्ष में सम है। आगे चलकर कृष्ण के

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

मधुरा चले जाने पर उसमें कुछ विषमता दिखाई पड़ती है। कृष्ण रंग गोपियों को भूले नहीं है, उद्धव के मुख से उनका वृत्तान्त सुनकर वे रंग में आसू भर लेते हैं, पर गोपियों ने जैसा वेदनापूर्ण उपालम दिया है—
 अनुराग की कमी ही व्यंजित होती है।

पहले कहा जा चुका है कि शृंगार और वात्सल्य के क्षेत्र में दूर समता को और कोई कवि नहीं पहुँचा है। शृंगार के संयोग और निःसंयोग दोनों पक्षों का इतना प्रचुर विस्तार और किसी कवि में नहीं मिला। वृन्दावन में कृष्ण और गोपियों का सम्पूर्ण जीवन क्रीड़ामय है और सम्पूर्ण क्रीड़ा संयोग-भक्ष है। उसके अन्तर्गत विभावों की परिपूर्णता और राधा के अग-प्रत्यग की सोभा के अत्यन्त प्रचुर और चमत्कारपूर्ण में तथा वृन्दावन के करील-कुजों, लोनी-खताओं, हरे-भरे कण्डा खिली हुई चादनी, कोकिल कूजन आदि में देखी जाती है। अनुव और सचारियों का इतना बाहुल्य और कहा मिलेगा? सारांश यह संयोग-मुख के जितने प्रकार के क्रीड़ा-विधान हो सकते हैं वे सब घुँकाकर इकट्ठे कर दिये हैं। यहाँ तक कि कुछ ऐसी बातें भी आ गई हैं—जैसे, कृष्ण के कंधे पर चढ़कर फिरने का राधा का आग्रह—कम रसिक लोगों को अरुचिकर स्त्रैणता प्रतीत होगी।

सूर का संयोग-वर्णन एक क्षणिक घटना नहीं है, प्रेम-मगीतमय की गहरी चलती धारा है, जिसमें अवगाहन करानेवाले को दिव्य भा के अनिरूपित और कही कुछ नहीं दिखाई पड़ता। राधा-कृष्ण के रंग-रस के इतने प्रकार के चित्र सामने आते हैं कि सूर का हृदय प्रेम की नागा उम का अशम भाजार प्रतीत होता है। प्रेमोदय-भाव की विनोद-भूति व हृदय-प्रेरित हावों की छटा चारों ओर छाग्री पड़ती है। राधा और कृष्ण का गाय पराग समय वन में भी साथ हो जाता है, एक दूसरे के घर आने-जाने भी सगे हैं, इसलिये ऐंगी-ऐंगी बातें मिल म मिलने लगीं लगती हैं—

(क) करि स्यो ग्यारी, हरि, वारनि गैरी ।

महिं बसात सान बसु तुमसों सबे ग्याग बरउपा ॥

(८) $\frac{1}{2} \times \frac{3}{4} = \frac{3}{8}$

॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥

နိဗ္ဗာန် နှင့် နိဗ္ဗာန် နှင့် - နှင့် နိဗ္ဗာန် နှင့် နိဗ္ဗာန် နှင့် ॥

(7) कौन से लोग बुराई करते हैं ?

॥ शिवाय, हा का काय, एहि शिवाये मं मंजा ?

संयोग के इस अन्तर्गत कि साह-सह नु माया बसो उपास मागने
 ली है, माग उ। उपर के। है। सामे मेन के सावित्री की बेंनी मोयी-
 की और मोयी मागो उपर है—

॥ १ ॥ दाम-द्वारं तु त्वां ज्ञेयं ह्ययं ।

ॐ "मं एतन्मयीं शुद्धीं शरीरं, यत् नैवेद्यं भुज्यात् ॥

मैंने कहा कि मैं जिन्ने के साथ नहीं आऊँगा ।

छोटे गंगा मोरों बुनि एतनं, मरि । गिरी धात ॥

काने का सागन यह वि प्रेम प्राप्त की मनोमूर्ति का जेगा विष्णु
 और पूर्ण परिश्रम मूर को था बंगा और रिगी बवि को नहीं। इनका
 एक मरांग-रगन मर्या-बीदी प्रेममर्या है जिसमें आनन्दोन्मत्त के
 जाने विष्णु मर्या का विधान है। मर्या-मर्या, दान-मर्या, मान-मर्या
 मर्यादि मर्या उगी के अन्तर्भूत हैं। पोछे देव बवि ने एक 'अष्टयाम' मर्या
 मर्या विष्णु का प्रयत्न किया, पर वह अधिष्ठान मर्या घर के भीत
 मर्या-विष्णु की कृत्रिम दिन-मर्या के रूप में है। उसमें न तो वह अनेकमर्या
 है और न प्राकृतिक जीवन की वह उमंग।

ध्यातव्य है कि स्व-प्रतिज्ञा के दिने गुण के अथ-प्रत्यय का मूल जो नीचे पदों में वर्णन किया है, वह तो क्रिया ही है, आश्रय-स्थान में भोग्य-कार और उगरे-अद्भुत-प्रभाव पर एक दूसरी ही पद्धति पर बड़ी रम्य-उक्ति-बढ़ा अधिक है। हा जो हृदय तक पहुँचानेवाले नेत्र ही है इससे हृदय की सारी आकुलता, अभिप्राय और उत्कण्ठा का दोष इन्हीं स्वभावों से मिर मटकर मूल ने इनके प्रभाव-प्रदर्शन के लिये बड़े अद्भुत निराले हैं। बहो इसी न बतनेवाली प्यास की परेशानी दिखाई है।

कही इनकी चपलता और निरंकुशता पर इन्हें कोसा है। पीछे दिहाते रामसहाय, गुलाम भवी और रसनिधि ने भी इस पद्धति का बहुत कुछ अनुकरण किया पर यहां तो भडार भरा हुआ है। इस प्रकार के वेश-व्यापार-वर्णन आश्रय-पक्ष और आलम्बन-पक्ष दोनों में होते हैं। सूर ने आश्रयपक्ष में ही इस प्रकार के वर्णन किये हैं; जैसे—

मेरे नैन बिरह की बेलि बई ।

सोंपत नीर नैन के राजभी मूल पताल गई ॥

बिगसति लता सुभाय आपने, छाया सघन भई ॥

अथ फंसे निरुझारी, राजनी सब सन पसरि छई ॥

आलम्बन-पक्ष में सूर के नेत्र-वर्णन उपमा-उत्प्रेक्षा आदि से सूर के वर्णन की शैली पर ही है, जैसे—

देति, री । हरि के चंचल नैन ।

खंजन मीन मृगज चपलाई नहि पटतर एक तंग ॥

रागिबदल, इदीवर, दातदल कमल कुण्डल शय जाति ।

निसि भुद्रित, प्रातहि ये बिगसत ये बिगसत दिन रात ॥

अथ अशित तित झलक पलक प्रति को धरनं उपमाय ।

मनी सरस्वति गंग जमुन निलि आगम कोन्हो आय ॥

आलंबन में स्थित नेत्र क्या क्या करते हैं, इसका वर्णन सूर ने बहुत ही कम किया है। पिछले कुछ कवियों ने इस पक्ष में भी समतारापूर्ण चित्रण किया है। जैसे सूर ने तो "अरन, अगित गिन झलक" पर गंगा यमुना और सरस्वती की उत्प्रेक्षा की है, पर गुलाम भवी (रसजीन) ने जमी झलक की यह करतूत दिखाई है—

अमिय हलहल मरु भरे शेष ध्यान पतातर ।

जिह्वा, मूल, मरु, मरु परत जेहि ध्यान हर धार ॥

मुरली पर बनी हुई उजाया भी ध्यान देने योग्य है, क्योंकि उनको प्रेम की मुरीयता टांगी है। यह वह मुरीयता है, जो भरे हुए हृदय से छलककर निर्जीव वस्तुओं पर भी अपना रंग चढ़ाती है। मुरीयों की छेड़-

छाड़ कृष्ण ही तक नहीं रहती; उनकी मुरली तक भी—जो जड़ जीर निर्जीव है—पहुँचती है। उन्हें वह मुरली कृष्ण के सर्वध में कभी इठलाती, कभी पिघाती और कभी प्रेममय दिशाही जान पड़ती है। उसी सर्वध-भावना में वे उसे कभी फटकारती है, कभी उसका भाग्य सराहती है और कभी उसमें ईर्ष्या प्रकट करती है—

(क) माई री ! मुरली अति मन काह बसति नहीं भाग ।

हरि के मृत कमल देन पायो सुखराम ॥

(ख) मुरली राज गोसालहि भावनि ।

सुन री सती ! जदपि नंदनदहि माना भांनि नजावनि ।

राखति एक पायें छाडे करि, अनि अधिकार जनाननि ॥

आपुन पीडि अपर-राज्य पर कर-पल्लव सर्ब पर पलुप्रयति ।

भैकुटी कुशिल, कोप नागानुष्ट एम पर कोपि कँपावति ॥

हृदय के पारसी मूर ने मज्ज-भावना की शक्ति का अच्छा प्रसार दिलाया है। कृष्ण के प्रेम ने गोपियों में इतनी मजीबता भर दी है कि कृष्ण क्या कृष्ण की मुरली तक में छेड़छाड़ करने को उनका जी चाहता है। हवा से लटने वाली स्त्रियाँ देखी नहीं तो कम से कम गुनी बहनों ने होगी, चाहे उनकी जिन्यादिली की कद्र न की हो। मुरली के सर्वध में कहे हुए गोपियों के वचन से मानसिक तत्त्व उपलब्ध होते हैं—आलंबन के साथ किसी वस्तु की सर्वध-भावना का प्रभाव तथा अत्यन्त अधिक या फालतू उमग के स्वरूप मुरली-नायिनी शक्तियों में प्रयानता पहली बात की है, यद्यपि दूगने तत्त्व का भी मिश्रण है। फालतू उमग के बहुत अच्छे उदाहरण हम समय देराने में आते हैं जब थोड़ी स्त्री अपने प्रिय को कुछ दूर पर देख कभी ठोकरताने पर बक-बक कर को दो-चार मोटी मालिया गुनाही है, कभी रास्ते में पड़ती हुई पैर की टहनी पर झू-भग सहित झुल्लाती है और कभी अपने बिम्बी सापी को यो ही डबेल देती है।

यह सूचित करने की आवश्यकता तो बदाचित् न हो कि रूप पर मोहित होना, द्यंत के लिये आवृत्त रहना, विशेष में तत्पना आदि गोपियों के

पक्ष में जितना कहा गया है उतना कृष्ण-यक्ष में नहीं। यह वहाँ के युवा कवियों की—विशेषतः फुटकर पद्य रचनेवालों की—सामान्य प्रवृत्ति रही है। तुल्यानुराग होने पर भी स्त्रियों की प्रेम-दशा या काम-दशा का वर्णन करने में ही यहाँ के कवियों का मन अधिक लगा है। पुराने प्रबंध-नाम तो यह भेद उतना लक्षित नहीं होता पर पीछे के काव्यों में यह स्पष्ट झलक रहा है। बाल्मीकिजी ने रामायण में सीता-हरण के उपरान्त राम और सीता दोनों के वियोग-दुःख-वर्णन में प्रायः समान ही शब्द-व्यय किया है। कालिदास ने मेघदूत का आरम्भ यक्ष की विरहावस्था से करके उत्तर-मेघ में यक्षिणी के विरह का वर्णन किया है। उनके नाटकों में भी प्रायः यही बात पाई जाती है। अतः मेरी समझ में शृंगार में नायिका की प्रेम-दशा या विरह-दशा का प्राधान्य श्रीमद्भागवत और ब्रह्मवैवर्त पुराण की कृष्णलीला के अधिकाधिक प्रचार के साथ हुआ, जिसमें एक ओर तो अनन्त सौन्दर्य की स्थापना की गई और दूसरी ओर स्वाभाविक प्रेम का उदय दिसाया गया।

पुरष आलंबन हुआ और स्त्री आश्रय। जनता के बीच प्रेम के इस स्वरूप ने यहाँ तक प्रचार पाया कि क्या नगरों में क्या ग्रामों में, सर्वत्र प्रेम के गीतों के नायक कृष्ण हुए और नायिका राधा। 'बनधारी' या 'कन्हैया' नायक का एक सामान्य नाम सा हो गया। दिल्ली के पिछले बादशाह मुहम्मद शाह रंगीले तक को होली के दिनों में 'कन्हैया' बनने का शौक हुआ करता था।

और देशों की फुटकर थुगारी कविताओं में प्रेमियों के ही विरह आदि के वर्णन की प्रधानता देखी जाती है। जैसे एशिया के अरब, फारस आदि देशों में वैसे ही यूरोप के इटली आदि काव्य-संगीत-प्रिय देशों में भी यही प्रवृत्ति प्रचलित रही। इटली में पीट्रार्क की थुगारी कविता एक प्रेमिका के हृदय का उद्गार है। भारत में कृष्ण कथा के प्रभाव से गायक के भाषणक रूप में प्रतिष्ठित होने से पुण्यों की प्राधान्य-व्यवस्था अधिक गूँज उठी। आगे चलकर पुरस्त्व पर दृढ़ता कुछ बुरा प्रभाव भी पड़ा। बटोरे शायें, पराक्रम आदि पुराणोचित मृणालों से मुह मोड़ 'बटव-मटक मटक' खाने में लगे—बटव

पगह तो मांग-पट्टी मुरमे, मिस्मी तरु की नीवत पटुंची ! यूरोप में जहां स्त्री प्रधान वाक्पंक के रूप में प्रतिष्ठित हुई, इसका उल्टा हुआ । वहां स्त्रियों के बनाव-सिगार और पहनावे के खर्च के मारे पुरुषों के नाकों दम हो गया ।

मूर के सयोग-वर्णन की बात हो चुकी । इनका विप्रलंभ भी ऐसा ही विस्तृत और व्यापक है । वियोग की जितनी अतर्दशाएँ हो सकती हैं, जितने ढंगों से उन दशाओं का साहित्य में वर्णन हुआ है और सामान्यतः हो सकता है, वे सब उनके भीतर मौजूद हैं । आरंभ यातगत्य-रस के वियोग-पक्ष में हुआ है । कृष्ण के मयुरा से न लौटने पर नन्द और मसोदा दुःख के सागर में मग्न हो गए हैं । अनेक दुःखात्मक भाव-तरंगों उनके हृदय में उठती हैं । कभी मसोदा नन्द से रीसकर बहती है —

छाड़ि सनेह घले मयुरा, फत दौरि न चोर गह्यो ।

फाटि न गई यज्ज फी छावी, कत यह भूल सह्यो ॥

इसपर नन्द मसोदा पर उलट पड़ने है—

सब तू मारिबोई करनि ।

रिसनि धागे रहूं जो धागत, अब लं मांझे भरति ॥

रोत कं कर बावरी लं किरत घर घर परति ।

बठिन हिय करि तज जो मांघ्यो, अय ब्या करि मरति ॥

यह 'मुमलाहट' वियोग-जन्य है, प्रेम-भाव के ही अन्तर्गत है और जितनी स्वाभाविक है । गुन्ध-शांति के भग का कैसा यथातथ्य चित्र है । भागे देखिये, गहरी 'उत्प्लवता' और 'अधीरता' के बीच 'विरक्ति' (निर्वेद) और तिरस्कार-मिश्रित 'सिमलाहट' का यह मेल कैसा अनूठा उतरा है । मसोदा नन्द से कहती है—

नंद ! अब रीजें छोड़ि यनाय ।

देहु मिया निनि जाहि मयपुरी जहं गोकुल के राय ॥

'छोड़ि बनाय' में जितनी व्यङ्ग्यता है । 'तुम अपना राज अच्छी तरह संभालो; तुम्हें इतना गहरा शोक है; मैं तो जाती हूँ ।' एक एक वाक्य के साथ हृदय लिपटा हुआ आता दिखाई दे रहा है । एक वाक्य दो दो, तीन-तीन

0. ८ पदा में जितना बटा गया है उतना कृष्ण-यश में नहीं। यह बहा के फुलने
 कवियों की—विशेषतः फुटकर पद्य रचनेवालों की—सामान्य प्रवृत्ति है
 रही है। गुप्तानुराग होने पर भी स्त्रियों की प्रेम-दशा या वाम-दशा का वर्णन
 करने में ही यहाँ के कवियों का मन अधिक लगा है। पुराने प्रबंध-नाम में
 तो यह भेद उतना लक्षित नहीं होता पर पीछे के काव्यों में यह स्पष्ट प्रकट
 है। चारमीरिजी ने रामायण में सीता-हरण के उपरान्त राम और हनुमान
 दोनों के वियोग-दुःख-वर्णन में प्रायः समान ही शब्द-व्यय किया है। चारमीरिजी
 ने मेघदूत का आरम्भ यश की विरहावस्था में करके उत्तर-मेघ में यश की
 विरह का वर्णन किया है। उनके नाटकों में भी प्रायः यही बान पाई जाती है।
 अतः मेरी समझ में शृंगार में नायिका की प्रेम-दशा या विरह दशा का प्रचार
 धीमद्भागवत और ब्रह्मचर्यवर्त पुराण की कृष्णलीला के अधिकाधिक प्रचार
 के साथ हुआ, जिसमें एक ओर तो अनन्त सौन्दर्य की स्थापना की गई और
 दूसरी ओर स्वाभाविक प्रेम का उदय दिसाया गया।

पुरुष आलवन हुआ और स्त्री आधर। जनता के बीच प्रेम के इस
 स्वरूप ने यहाँ तक प्रचार पाया कि क्या नगरों में क्या ग्रामों में, सर्वत्र प्रेम
 की गीतों के नायक कृष्ण हुए और नायिका राधा। 'बनवारी या बन्हैया'
 नायक का एक सामान्य नाम सा हो गया। दिल्ली के पिछले बादशाह
 हुसैन शाह रंगीले तक की होली के दिनों में 'बन्हैया' बनने का शौक हुआ
 करता था।

और देशों की फुटकर शृंगारी
 वर्णन की प्रधानता देखी जाती
 तो मैं बैसे ही यूरोप के इटली
 पद्धति प्रचलित रही। इटली में
 हृदय का उद्गार है। भारत में
 रूप में प्रतिष्ठित होने से पुरुष
 चलकर पुरुषत्व पर इतका
 भावि पुरपोचित गुणों से

गुहार को देखकर, दूध पीने लगे हैं। इनमें एक मन्नाज बहागा है।
 गदगि में फिर गुहार को इस प्रकार बने तो बेमते यह करने हैं।
 'ये बे चो, जाने एक मन्ना-मन्ना को उनी प्रकार होते हैं, पर "मन्नागोपात
 रता दा लन को बंदे दा रता'। एक में दूधे मादका में जो मनोहर
 मन्ना देखने में आता करता था वह अब बाहर गनी दिगर्भ पता, पर मन
 से उनकी 'मन्ना' गनी जाती—

एहि धेगियां इन ते चर मादने।

दूध में यह बेनु जयर परि दारंवार बजाये ॥

मयोग के दिनों में जगन्म की लगे उगने वाले प्राकृतिक पदार्थों को
 विषों के दिनों में देखकर जो दुःख होता है उनकी व्यथना के लिए बहियों
 में उदात्त की बात बहुत दिनों में चली आती है। चट्टोपातभगवधिनी
 बड़ी गुहार बहियाँ मन्ना-मादिका में हैं। देखिए, गागर-मयन के समय
 पन्ना को निकालने वाली मन्ना दम उदात्त में, रिम प्रकार गोंगिया अपनी
 दृष्टि दोरानी है—

या बिनु होन बहा सर सूनी ?

रेरिन प्रगट हियो प्राची दिगि, बिरहिन को कुत दूनी ?

सब निरदय गुह, भगुर, शंत, मनि ! सायर सन समेत ॥ .

पत्थ बहो वर्षा प्रतु, तमवर ओ कमलन को हेत ।

जुग जुग जीवं जरा बापुरी मिने राहु अरु कैत ॥

इसी पदवि के अनुसार ये विमोगिनी गोपिया अपने उजड़े हुए नीरस
 जीवन के मेल में न होने के कारण बृन्दावन के हरे भरे पेड़ों को कोमती है—

भयुवन ! तुम फल रहत हरे ?

बिरह-विमोग दयामगुन्दर के ठाढ़े क्यों न जरे ?

तुम ही निलज, साज नहिं तुमको, फिर सिर पुट्टप धरे ?

सला स्यार औ मन के पजेह विक विक सबन करे ।

बीन दाज ठाढ़े रहे मन में, काहे न उकठि परे ?

इसी प्रकार रात उन्हें सापिन सी लग रही है। सापिन को पीठ काली

भावों से लदा हुआ है। श्लेष आदि कृत्रिम विधानों से मुक्त ऐसा होना गुणत्व हृदय को सीधे जाकर स्पर्श करता है। इसे भाव-शबलता कहें। भाव-मंचामृत; क्योंकि एक ही वाक्य "नन्द ! सज लीजें ठोकर बरान में कुछ निर्वेद, कुछ तिरस्कार और कुछ अमर्ष इन तीनों की मिश्र व्यञ्जना—जिसे शबलता ही कहने से सतोष नहीं होता—पाई जाती है। शब्दों के प्रदत्त उदाहरणों में प्रत्येक भाव अलग शब्दों या वाक्यों द्वारा निरूपित किया जा सकता है; पर उक्त वाक्य में यह बात नहीं है।

खाल सखाओ में भी यही दशा हो रही है। कभी वे व्याकुल हो अपीर होते हैं, कभी कृष्ण की निष्ठुरता पर दुःख होकर बहते हैं—

भये हरि मयपुरी-राजा, बड़े अंत कहान ।

सूत भागध धरति विवशहि दरनि समुझी तान ।

राजभूवन अंग आगत, अहिर कहत सजात ॥

विमुक्त प्रिय के गुण के अनिश्चय की 'शका' तरु न पटुं बती हुई भाव 'दीनता' और शोभ-जन्य 'उदासीनता' किस प्रकार इन वचनों से टन रही है—

तरेगो देखकी सों कहियो ।

हो तो घाय तिहारे गुन की कृपा करति हो रहियो ॥

सुम तो डेज जाननिहि हुंही तऊ मोहि कहि भाई ।

भान उडत भेरे सात सङ्गाहि मातन रोटी भाई ॥

कृष्ण राजभवन में जा पहुँचे हैं, यह जानते हुए भी यशोदा के प्रेम-हृदय में यह बात जल्दी नहीं बैठती कि कृष्ण के गुण का क्या जितना वे रगती थी जाना मगार में और भी कोई रस मगना है। रगम हृदय ही ऐसी दशाओं का अनुभव कर मगना है। वे सब उदाहरणों की सी पीटनेवालों के भाव में यह बात बहती !

आगे बचकर गोविन्द की शिरोम-दत्ता का जो घास उगाव बनी है उगता तो कहता ही क्या है। न जाने किन्हीं मानसिक दशाओं का मगना उनके भीतर है। कौन गिता मगता है ? शयों और शिरोम को मग हो

मे गृगार की व्यापकता बहुत अधिक है। इसी से वह रसरत्न कहलाता है।
 इस दृष्टि से यदि मूरदास को हम रममाणर कहें तो बेसठके कह सकते हैं।
 इच्छा के चले जाने पर सायं-प्रभात तो उसी प्रकार होने हैं, पर "मदनगोपाल
 बिना या तन की सर्व बात बदली"। यज्ञ में पहले सायंकाल में जो मनोहर
 नृत्य देखने में आया करता था वह अब बाहर नहीं दिसाई पड़ता; पर मन
 में उसकी 'स्मृति' नहीं जाती—

एहि घेरिषां जन ते यज्ञ आयते।

दूरहि से यह येनु अजर धरि चारंवार बजायते ॥

सयोग के दिनों में आनन्द की तरंगें उठाने वाले प्राकृतिक पदार्थों को
 वियोग के दिनों में देखकर जो दुःख होता है उसकी व्यञ्जना के लिए कवियों
 में उपात्त की चाल बहुत दिनों से चली आती है। चन्द्रोपात्तभगवद्भिनी
 बड़ी सुन्दर कवितायें संस्कृत-साहित्य में हैं। देखिए, सागर-मथन के समय
 चन्द्रमा को निकालने वालों तक इस उपात्त में, किस प्रकार गोपिया अपनी
 दृष्टि डीढ़ती है—

धा बिनु होत कहा भज सुनो ?

ऐक्यिन प्रगट कियो प्राची दिति, बिरहिन को दुख दूनो ?

सब निरदय गुर, अमुर, शूल, सखि ! सायर सब समेत ॥

धन्य कहौ घरी अतु, समचर औ कमलन को हेत ।

जुग जुग जीय जरा बापुरी मिले राहु अरु केत ॥

इसी पद्धति के अनुगार में कियोगिनी गोपियां अपने उजड़े हुए नीरस
 जीवन के मेल में न होने के कारण वृन्दावन के हरे भरे पेड़ों को कोमली हैं—

मजुदन ! तुम यत रहन हरे ?

बिरह-वियोग दयामुन्दर के छाड़े क्यों न जरे ?

तुम ही निलज, लाज नहि तुमको, फिर तिर पुहुप परे ?

साता स्यात औ बन के पल्लव फिर दिख नयन करे ।

बौन राज छाड़े रहे बन में, बाहे न उजड़ि परे ?

इसी प्रकार रात उन्हें सापिन सी लग रही है। सापिन की पीठ वाली

भावों से लदा हुआ है। दलेय आदि कृत्रिम विधानों से मुक्त ऐसा ही मा-
 गुरतय हृदय को सीधे जाकर स्पर्श करता है। इसे भाव-शब्दलता कहें या
 भाव-संचामृत, क्योंकि एक ही वाक्य "नन्द ! राज लीजें ठाँक बरान"
 में कुछ निवेद, कुछ तिरस्कार और कुछ अगमं इन तीनों की मिश्र व्यञ्जना-
 जिसे शब्दलता ही कहने से गतोप नहीं होता—पाई जाती है। शब्दलता के
 प्रदत्त उदाहरणों में प्रत्येक भाव अलग शब्दों या वाक्यों द्वारा निर्दिष्ट
 किया जा सकता है; पर उक्त वाक्य में यह बात नहीं है।

ग्याल सखाओ में भी यही दशा हो रही है। कभी-कभी व्याकुल भावों
 अघोर होते हैं, कभी कृष्ण की निष्ठुरता पर दुःख होकर कहते हैं—

भये हरि मधुपुरी-राजा, बड़े अंत कहाम ।

सूत मागध मदति विहरहि दरनि मसुछी तान ।

राजभूषन अंग आगत, अहिर कहत लज्जात ॥

विपुल प्रिय के सुख के अनिश्चय की 'शका' तक न पहुँचती हुई भाव-
 'दीनता' और शोभ-जन्य 'उदासीनता' किस प्रकार इन वचनों से टप
 रही है—

संदेसो देवकी सों कहियो ।

हौं तो घाय तिहारे भुन की

भुन तो देव जानतिहि तूरे

प्रात उठत मेरे लाल ।

कृष्ण राजभवन में जा पहुँचे हैं

हृदय में यह बात जल्दी नहीं

जितना वे रखती थी उतना जितना

हृदय ही ऐसी दशाओं का

पीटनेवालों के भाग्य में

आगे चलकर गोपियो

है उसका तो कहना ही क्या

उसके भीतर है। कौन

प्रभु का चेहड़ा का चेहड़ा मिटता जाता है । ऐसे यौन पावन के प्रसंग में दूर ने दूर ठण्डे किए हैं । "निनि दिन दरसन मैं हमारे" बहुत शक्ति पद है । दिग्दोषों में निम्न-निम्न प्रकार की छत्ती हुई भाव-शक्ति ने रजित होकर एक ही वस्तु कभी कभी रूप में दिखाई पड़ती है, कभी कभी रूप में । उल्टे हुए बादल कभी तो ऐसे भीरु रूप में दिखाई पड़ते हैं—

देखियन छहूँ दिनि सँ घनघोरे ।

मानौ मत मदन के हृदियन छल बरि बंधन तोरे ॥

बारे तन अनि सुवन गंड मद, बरसन घोरे घोरे ॥

रसन न पवन-महारन हूँ पै, मुरत न अंकुस मोरे ॥

कभी अरने प्रभु लोच-गुणशायक रूप में ही गामने आते हैं और शृंग की अपेक्षा कहीं दयालु और परोपकारी लगने हैं । —

बद ये बदराऊ बरसन आरु ।

अपनी अर्वाधि जानि, नंदनंदन ! गरजि गगन धन छाए ॥

कहिपत हूँ सुरलोक यमत, शशि ! सेयक सदा पराए ।

घातक कुत की धीर जानि कै, तेउ तहां ने थाए ॥

तुण किए हरित, हरषि बेलि मिलि, दादुर भूतक जियाए ॥

'बदराऊ' के 'ऊ' और 'बह' में कौसी व्यंजना है । 'बादल तक'— जो जड़ समझे जाते हैं—आधितो के दुःख से द्रवीभूत होकर आते हैं ।

प्रिय के साथ कुछ रूप-साम्य के कारण वे ही मेष कभी प्रिय लगने लगने हैं—

21/4/54

आजु घनश्याम की अनुहारि ।

उन आए सांवरे ते सजनी ! देखि, रूप की आरि ॥

इन्द्र धनुष बनो नवल बसन छवि, दामिनि दसन विचारि ।

जनु बग-मांति माल मोतिन की, चितवत हितहि निहारी ॥

इसी प्रकार परीहा कभी तो अपनी बोली के द्वारा प्रिय का स्मरण कराकर दुःख बढ़ाता हुआ प्रतीत होता है और यह फटकार सुनाता है—

प्रभु का चेहरे दिखना जाना है । ऐसे वनन पावन के प्रगम में मूर ने बहुत कष्टों किए हैं । "निर्गुन दिन दरसन नैन हमारे" बहुत प्रसिद्ध पद है । विरजोन्मत्त में निम्न-निम्न प्रकार की उन्नी हुई भाव-नाओं में रक्षित होकर एक ही वस्तु कभी किसी रूप में दिखाई पड़नी है, कभी किसी रूप में । उन्ने हुए सादर कभी तो ऐसे भीषण रूप में दिखाई पड़ने हैं—

देखियन यहूँ निमि तें घनपोरे ।

मानो भक्त मदन के हृषियन बल करि बंधन तोरे ॥

बारे तन अनि घुषन गंड मद, बरसत पोरे घोरे ॥

हरन न पवन-अहारन हूँ पै, भुरत न अंकुस भोरे ॥

कभी अपने प्रभु को गुणदायक रूप में ही सामने आते हैं और गुण की अपेक्षा बही दयालु और परोपकारी लगने हैं । —

यद्यपि बदराज बरसन आरु ।

अपनी अर्पण जानि, मंडनंदन । गरजि गगन घन छाए ॥

कहियत हैं मुरलोक बसत, राखि । सेयक सदा पराए ।

घातक कुल की घोर जानि कै, तेउ तहां ने धाए ॥

तुण किए हरित, हरपि बेलि मिलि, बादुर भूतक त्रिधाए ॥

'बदराज' के 'ऊँ' और 'बर' में कौसी व्यंजना है । 'बादल तक'— जो जड़ समझे जाते हैं—आधितो के दुख से द्रवीभूत होकर आते हैं ।

प्रिय के साथ कुछ रूप-साम्य के कारण वे ही मेघ कभी प्रिय लगने लगते ।

आजु घनश्याम की अनुहारि ।

उन आए सांवरे ते सजनी ! देखि, रूप की आरि ॥

इन्द्र घनपु भनो नवल बसन छवि, दामिनि दसन विचारि ।

जनु बग-पाति भाल भोतिन की, चितवत हितहि निहारी ॥

इसी प्रकार पपीहा कभी तो अपनी बोली के द्वारा प्रिय का स्मरण कराकर दुःख बढ़ाता हुआ प्रतीत होता है और यह फटकार सुनाता है—

हों तो मोहन के विरह जरी, रे ! तू कत जात ?
 रे पापी ॥ पल्लि पनीहा । 'पिउ पिउ पिउ' अजिराति पुकारत ॥
 सज जग गुप्तो, कुप्तो तू जल बिनु, तऊ न तन को बियहि बिचारत ।
 मूर स्वाम बिनु व्रज पर बोलत, हठि अगितोज जनम बिगारत ॥

और कभी समदुःख-भोगी के रूप में अत्यन्त मुहुद् जान पड़ता है और
 समान प्रेम व्रत-याचन के द्वारा उनका उत्साह बढ़ाता प्रतीत होता है—

बहुत दिन जीवौ, पपिहा प्यारो ।

बासर रैन मांव सँ बोलत, भयो विरह-जुर कारो ॥
 आपु दुखित पर दुखित जानि जिय चातक^१ नाम तिहारो ।
 देखौ सकल बिचारि, सजो ! जिय सिछुरन को दुख प्यारो ॥
 जाहि लगँ सोई पै जानँ प्रेम-बान अनियारो ।

ललित-सिद्धास प्रभु स्वाति बूंद लगि, तज्यो सिधु करि खारो ॥

काव्य-जगत् की रचना करनेवाली कल्पना इसी को कहते हैं । किसी
 भावोद्रेक द्वारा परिचालित अन्तर्वृत्ति जब उस भाव के पोषक स्वरूप
 गूढ़ कर या काट-छाट कर सामने रखने लगती है तब हम उसे सच्ची कवि-
 कल्पना कह सकते हैं । यों ही सिरपच्ची करके—बिना किसी भाव में मान
 हुए—कुछ-कुछ अनोखे रूप खड़े करना या कुछ को कुछ कहने लगना
 या तो बावलापन है या दिमागी कसरत ; सच्चे कवि की कल्पना नहीं
 वास्तव के अतिरिक्त या वास्तव के स्थान पर जो रूप सामने लाए गए
 हों उनके सम्बन्ध में यह देखना चाहिए कि वे किसी भाव की उमंग में
 उस भाव को संभालनेवाले या बढ़ानेवाले होकर आ खड़े हुए हैं या जो
 ही समाशा दिखाने के लिए—कुनूहल उत्पन्न करने के लिये—जबरदस्ती
 पकड़ कर लाए गए हैं । यदि ऐसे रूपों की तह में उनके प्रवर्तक या प्रेरक
 भाव का पता लग जाय तो समझिए कि कवि के हृदय का पता लग
 गया और वे रूप हृदय-अंशित हुए । अंग्रेज कवि कॉलरिज ने, जिसने

१ चातक = (चत = मागना) याचना करनेवाला ।

कवि-कल्पना पर कल्पा विवेचन किया है, अन्तर्गत एव कविता^१ में ऐसे कल्पना को कल्पानन्दक कल्पना में निरूपण हुआ गया है, जिसके प्रभाव में जीवन में जीवन्तता रहती है। उक्त दृष्ट यह कल्पना (कल्पना का) जीवन में सदा सदा सदा है जब तक दुःख की परिस्थिति में भी कल्पानन्दक नहीं टूटता। पर धीरे-धीरे यह दिव्य आवरण हट जाता है और मन गिरने लगता है। आबोध और कल्पना में इनका घनिष्ठ सम्बन्ध है कि एव कल्पना-जीवन्तता में दोनों को एव ही कहना ठीक समझ कर यह कहा है—“कल्पना आनन्द है” (Imagination is joy)^२।

सच्चे कवियों की कल्पना की धान जाने दीजिए, साधारण व्यवहार में भी लोग जोन में आवर कल्पना का जो व्यवहार बराबर किया करते हैं वह भी किसी पहाड़ को ‘गिनु’ और ‘पांडव’ कहने वाले कवियों के व्यवहार में वही उचित होता है। किसी निष्ठुर कर्म करने वाले को यदि कोई ‘हत्यारा’ कह देता है तो वह सच्ची कल्पना का उपयोग करता है; क्योंकि विरक्ति या घृणा के अनिरेक में प्रेरित होकर ही उसकी अन्तर्वृत्ति हत्यारे का रूप सामने करती है, जिसमें भाव की मात्रा के अनुरूप आलम्बन खाड़ा हो जाता है। ‘हत्यारा’ शब्द का लाक्षणिक प्रयोग ही विरक्ति की अधिकता का ध्वजक है। उसके स्थान पर यदि कोई उसे ‘बकरा’ बहे, तो या तो किसी भाव की व्यञ्जना न होगी या किम् ऐसे भाव की होगी जो प्रस्तुत विषय के मेल में नहीं। कहलानेवाला कोई भाव अवश्य चाहिए और उस भाव की प्रस्तुत वस्तु के अनुरूप होना चाहिए। भारी भूख को लोग जो ‘गदहा’ कहते हैं वह इसीलिए कि ‘भूख’ कहने से उनका जो नहीं भरता—उनके हृदय में उपहास अथवा तिरस्कार का जो भाव रहता है उसकी व्यञ्जना नहीं होती।

बहने की आवश्यकता नहीं कि अलंकार-विधान में उपर्युक्त उपमा

१. Dejection Ode. 4th April, 1802 २. *संक्षेपान्तर*

२. W. Mackail's Lectures on Poetry

काल-काल के देव हैं—
॥

इस प्रकार प्रत्येक दिनें प्राण मृत ने कई जगह पूरे प्राण की
मरण की है। जैसे लीला मधुना में हुआ ही दूर पर पड़ी विग्रह में
लगाए गये हैं, पर कृष्ण राज-मृत के आनन्द में पड़े नहीं समा रहे हैं।
एक बात के इस विषय प्राण बताने हैं—

सागर-मृत मोन तरंगन हैं, हुआमि होन जन पीन ।

जैसा ऊपर बताया गया है, जिसे निर्माण करनेवाली—गुटि सड़ी
करनेवाली—बनना बताने हैं उगरी पूर्णता बिम्बी एक प्रगुन वस्तु के
जिसे कोई दूसरी अग्रगुन वस्तु—जोकि प्रायः बविश्वरूपरा में प्रसिद्ध
होना करती है—रख देने में उनकी नहीं दिखाई पड़नी जितनी बिम्बी
एक पूर्ण प्रगण के मोल का कोई दूसरा प्रगण—जिसमें अनेक प्राकृतिक
वस्तुओं और व्यापारों की नवीन योजना रखी है—रखने में देखी
पानी है। मूरदामजी ने बनना की इस पूर्णता का परिचय जगह-जगह
दिया है, इसका अनुमान ऊपर उद्धृत पदों से हो सकता है। बबीर, जायसी
आदि कुछ रहस्यवादी कवियों ने इन जीवन का मार्मिक स्वरूप तथा
परोक्ष जगत् की कुछ घुपली भी शलक दिवाने के लिए इसी अन्वोक्ति-
पद्धति का अवलम्बन किया है, जैसे—

हंसा ध्यारे ! सरवर सजि कहं जाय ?

जेहि सरवर बिच मोती चुनते, बहुविधि केलि कराय ॥

सुल, ताल पुरइनि जल छोड़े, कमल गए कुंभिलाय ।

कह कबीर जो अय की बिछुरं, बहुरि मिलं कब आय ॥

रहस्यवादी कवियों के समान मूर की कल्पना भी कभी-कभी इस
श्लोक का अतिश्रमण करके आदर्श लोक की ओर संकेत करने लगती
है, जैसे—

धरई री ! चलि धरन-सरोवर जहां न प्रेम-विषोय ।

निहि-दिन राम राय की वर्षा, अय दज नहि दुख सोय ॥

जहाँ सनक से भीन, हंस शिव, मुनि-जन-नख-रवि-प्रभा-प्रकाश ।

प्रफुलित कमल, निमिष नहिं सति डर, गुञ्जत निगम सुखम ॥

जोहि सर सुभग भुक्ति मुक्ता-फल, सुकृत अमृत रस पीत्रे ।

सो सर छाँड़ि कुबुद्धि विहंगम ! इहाँ कहा रहि कीत्रे ? ॥

पर एक व्यक्तवादी समुणोपासक कवि की उक्ति होने के बावजूद चित्र में वह रहस्यमयी अव्यक्तता या धुंधलापन नहीं है। कवि अपनी भावना को स्पष्ट और अधिक व्यक्त करने के लिये जगह-जगह आकुलदिसाई पाता है इसी से अव्योक्ति का मार्ग छोड़ कर जगह-जगह उसने रूपक का प्रयोग लिया है। इसी अव्योक्ति का दीनदयाल श्री गिरि ने अच्छा निर्वहण किया है—

चल चकई ? वा सर विषय जहं नहिं रनि पिछोह ।

रहत एकरस विवस ही मुहूद हंस-संदोह ॥

मुहूद हंस-संदोह कोह अरु प्रोह न जाके ।

भोगत सुख-अंघोह, मोह-दुख होय न साके ॥

बरनं दीनदयाल भाग्य बिनु जाय न सकई ।

प्रिय-मिलाप नित रहै ताहि सर तू चल चकई ॥

श्री अव्योक्ति-पद्धति को कवीन्द्र-रवीन्द्र ने आजकल अपने विलुप्त प्रकृति-निरीक्षण के बल से और अधिक प्रलंबित करके जो पूर्ण और अव्यय स्वरूप प्रदान किया है वह हमारे नवीन हिन्दी साहित्य-क्षेत्र में 'गाव में नया नया आया ऊट' हो रहा है। बहुत से नवयुवकों को अपना एक नया ऊट छोड़ने का हौसला हो गया है। जैसे भावों या तथ्यों की व्यंजना के लिये श्रीयुत रवीन्द्र प्रकृति के त्रीड़ास्थल से लेकर नाना मूर्त स्वरूप सजा करते हैं वैसे भावों को ग्रहण करने तक की क्षमता न रखने वाले यद्गतेरे ऊटपटांग चित्र सजा करने और कुछ अगंवद्ध प्रलाप करने की ही 'छायावाद' की कविता समझ अपनी भी कुछ करामात दिखाने के फेर में पड़ गए हैं। चित्रों के द्वारा बात कहना बहुत ठीक है पर कहने के लिये कोई बात भी तो हो। कुछ तो काव्य-रीति से गर्ववा अनभिज्ञ, छंद, अलंकार

गदि के ज्ञान में विष्कुल कोरे देखे जाते हैं। बड़ी भारी बुराई यह है कि पढ़ने की एक 'नये सम्प्रदाय' में समस्त बहकारवश वे कुछ सीराने का कभी नाम भी नहीं लेना चाहते और अपनी अनभिज्ञता को एक चलते नाम की नोट में छिपाना चाहते हैं। मैंने कई एक से उन्हीं की रचना लेकर कुछ गन किए, पर उनका मानसिक विकास बहुत साधारण कोटि का—कोई पम्भोर तत्त्व ग्रहण करने के अनुपयुक्त—पाया। ऐमो के द्वाराकाव्य क्षेत्र में भी, राजनीतिक क्षेत्र के समान, पाखंड के प्रचार की आशंका है अतः आवश्यकता इस बात की है कि रहस्यवाद का प्रकृत स्वरूप और उसके इतिहास आदि साहित्य-सेवियों के सामने रखा जाय तथा पुराने और नये रहस्यवादी कवियों की रचनाओं की सूक्ष्म परीक्षा द्वारा रहस्यवाद की कविता की साहित्यिक स्वरूप की भीमासा की जाय।

यहां तक तो सूर की महदयता की बात हुई। अब उनकी साहित्यिक निपुणता के सम्बन्ध में भी दो-चार बातें कहना आवश्यक है। किन्तु कवि की रचना के विचार के मुभीने के लिये हम दो पक्ष कर सकते हैं—हृदय-पक्ष और कला-पक्ष। हृदय-पक्ष का कुछ दिग्दर्शन हो चुका। अब सूर की कला-निपुणता के, वाक्य के बाह्यार्थ के संबंध में यह समझ रखना चाहिए कि वह भी उनमें पूर्ण रूप में वर्तमान है। यद्यपि वाक्य में हृदय-पक्ष ही प्रधान है, पर बहिरंग भी कम आवश्यक नहीं है। रीति, अलंकार, छंद ये सब बहिरंग विद्या के अन्तर्गत हैं, जिनके द्वारा काव्यात्मा की अभिव्यक्ति में सहायता पहुँचनी है। सूर, तुलसी, बिहारी आदि कवियों में दोनों पक्ष प्रायः सम हैं। जायगी में हृदय-पक्ष की प्रधानता है, कला-पक्ष में (अलंकारों का बहुत कुछ व्यवहार होने हुए भी) त्रुटि और न्यूनता है। बेशक में कला-पक्ष ही प्रधान है, हृदय-पक्ष न्यून है।

यह तो आरम्भ में ही कहा जा चुका है कि सूर की रचना जगदेव और विद्यापति के गीत-वाक्यों की शैली पर है, जिसमें सूर और गज के गोन्दयं या मापुयं का भी रस-व्यतिराक में बहुत कुछ योग रहता है। सूरगागर में कोई राग या रागिनी छूटी न होगी, इसमें वह गदीन-

प्रेमियों के लिये भी बड़ा भारी राजाना है। नाद-सौंदर्य के साथ अनुप्रास आदि शब्दालंकार भी हैं। सस्कृत के गीत-गीोविन्द में के कान्त-पदावली और अनुप्रास की ओर बहुत कुछ ध्यान है। विरा की रचना में कोमल पदावली का आग्रह तो है, पर अनुप्रास का नहीं। मूर में चलती भाषा की कोमलता है, वृत्ति-विधान और अनु की ओर श्रुकाय कम है। इससे भाषा की स्वाभाविकता में बाधा देने पाई है। भाषुक मूर ने अपना 'शब्द-शोधन' दूसरी ओर रखा है। उन्होंने चलते हुए वाक्यों, महावर्गों और कही-कही कहावतों बहुत अच्छा प्रयोग किया है। कहने का सात्पर्य यह कि मूर की भाषा बहुत चलती हुई और स्वाभाविक है। काव्य-भाषा होने से यद्यपि वह कही-कही सस्कृत के पद, कवि के समय से पूर्व के परम्परागत प्रयोग तथा अज से दूर-दूर के प्रदेशों के शब्द भी आ मिले हैं, पर उनकी भाषा तनी नहीं कि भाषा के स्वरूप में कुछ अन्तर पड़े या कृत्रिमता भाये ले। और यमक कूट प्रदो में ही अधिकतर पाये जाते हैं। अर्थात् भाषा की अलवत्ता पूर्ण प्रचुरता है, विशेषतः उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि सादृश्य-मूलक अलंकारों की। यद्यपि उपमान अधिकतर साहित्य-प्रसिद्ध और परम्परागत ही हैं, पर स्वकल्पित नए-नए उपमानों की भी कमी नहीं है। कही-कही तो जो प्रसिद्ध उपमान भी लिये गये हैं; वे प्रमग के बीच बड़ी ही अनूठी उद्भावना के साथ बँटाए गए हैं। स्फटिक के आंगन में बालक कृष्ण घुटनों के बल चल रहे हैं और उनके हाथ-पैर का प्रतिबिम्ब गड़ता चलता है। पर इस पर कवि की उत्प्रेक्षा देखिए—

फटिक-भूमि पर कर-पग-छाया यह शोभा अति राजति ।

करि करि प्रति पद प्रति मनो बसुधा कमल बँठकी साजति ॥

रूप या अंगों की शोभा के वर्णन में उपमा उत्प्रेक्षा की भरमार बराबर मिलेगी। इनमें बहुत-सी सौ-पुरस्ती और बंधी हुई हैं और कुछ गवीन भी हैं। उपमा उत्प्रेक्षा की सबसे अधिकता 'हरिजू की बाल-छवि' के वर्णन में पाई जाती है; यों तो जहाँ-जहाँ रूप-वर्णन है, सर्वत्र ये अलंकार भरे पड़े हैं।

हमारे मन में है कि हमें — के लिए हमें अपने — के लिए —
 हमारे मन में है कि हमें — के लिए हमें अपने — के लिए —
 के लिए हमें अपने — के लिए हमें अपने — के लिए —

(४) जो जो है वह जो है वह जो है वह जो है वह जो है ॥

जो है, जो है, जो है, जो है जो है जो है जो है जो है ॥

(५) जो जो जो जो जो जो जो जो जो जो जो जो ॥

जो जो जो जो जो जो जो जो जो जो जो जो ॥

कमलामा और देव-कामा अदि के जनों में भूत की उत्पत्ति देने की
 बात भी बड़ जाती है और वे उत्पत्ति पर उत्पत्ति उत्पत्ति पर उत्पत्ति बहने
 पड़े जाते हैं । इन बात में कभी-कभी परिमिति या मर्यादा का विचार
 (Sense of portion) नहीं रह जाता , जैसे ऊपर के
 उदाहरण (४) में कहा भवतु तन्मो दुर्ग छोटी भी रोटी और बड़ा गोल
 पृथ्वी ! हा, जहाँ ईश्वरगुण या देवगुण की भावना में किसी छोटे व्यापार
 द्वारा अत्यन्त बृहद् व्यापार की ओर गयेन मात्र विचार है बड़ा ऐसी बात
 नहीं पटवनी; जैसे इन पद में—

मयन बधि मयनी टेंकि रह्यो ।

११/ आरि बरत मटकी गहि मोहन बामुकि संभु डग्यो ॥

मंदर डरत तिधु पुनि बापन पिरि जनि मयन करै ।

प्रलय होय जनि गहे भयानी, प्रभु मर्याद टरे ॥

२१०

पर उक्त दोनों उदाहरणों के सम्बन्ध में तो इतना बहे बिना नहीं रहा
 कि ऐसे उपमान बहुत काव्योंपयोगी नहीं जाते । काव्य में ऐसे
 उपमान अच्छी महायत्ना पहुचाने हैं जो सामान्यतः प्रत्यक्ष रूप में
 उचित होने हैं और जिनकी भव्यता, विशालता या रमणीयता आदि
 मस्तिष्क जन-माधारण के हृदय पर पहले से जमा चला आता है ।
 शनि का कोयले का बालापन ही किंगी ने आँखों देखा है, न बराह
 त्वान् का दात की नोक पर पृथ्वी उठाना । यह बात दूसरी है कि
 अब ऐसे कुछ प्रसिद्ध कवियों ने भी “भानु मनो शनि अक लिये” ऐसी

" गुरुदासजी में विजयी महदयता और भावुकता है, प्रायः उना २५
 अनुपमा और वाचस्पदयता (wit) भी है । विजयी बाप को कहने के न
 जाने बिनं टेंगे-गोंधे हग उन्हें मान्य थे । गोविन्दों के बचन में विजयी
 विदयता और वचन शरी है ? बचन-रचना की उता वचन के सम्बन्ध
 में आगे विचार दिया जायगा । यहाँ पर हम बंशधर्म के उता उपयोग का
 उल्लेख करना चाहते हैं जो आलङ्कारिक कुतूहल उत्पन्न करने के लिए
 किया गया है । माहिम्य-प्रतिष्ठा उपमानों को लेकर गूर ने बड़ी-बड़ी चीझें
 की हैं । यही उनको लेकर स्वभावतिशयोक्ति द्वारा "मद्मुप एक अनुपम
 बाग" लगाया है, वहीं, जब जैसा जी चाहा है, उन्हें मगत निद करके
 दिसा दिया है, वहीं मधुगत । गोविन्दों त्रियोग में बुढ़कर एक स्थान पर
 कृष्ण के अंगों को लेकर उपमा को इस प्रकार न्याय-संगत
 ठहराती हैं—

अब यह समुक्ति भई ।

अंग प्रति उपमा न्याय भई ॥

आदर्श आलोचना

तब तें इन सबहिन सबपायो । १०६
जब ते हरि संदेस तिहारो सुनत तांजरो आनो ॥
फूले झ्याल दुरे तें प्रगटे, पवन पैठ भरि सानो ।
ऊंचे बंठि बिहें-सभा बिच कोकिल मंगल गाओ ॥
निकसि कंदरा तें केहरिहू भायें पूछ हिलाओ ।
बनगुह तें गजरात निकसि कै अंग अंग गवं जनाओ ॥

चेष्टाओं और अंगों का मन्द और थोहीन होना कारण है और इ-
मानों का आनदित होना कार्य है । यहा अप्रस्तुत कार्य के वान्त प्र-
स्तुत कारण की ध्यजना की गई है । गोस्वामी तुलसीदास जी ने जहाँ
के न रहने पर उपमानों का प्रसन्न होना राम के मृत्यु से कहना है—

कुंदफलो, बाँझिम, दामिनी । कमल, सरदसति, अहि-भामिनी ॥
भीकल बनक कडलि हरपाही । मेकु न संक साधुच मन मरौ ॥
मुनु जानकी ! तोहि बिनु भाजू । हरयें सरस पाद बनू रामू ॥

पर यहाँ उपमानों के आनन्द से केवल गीता के न रहने की व्यथा
होती है । गूर की 'अप्रस्तुत प्रसंगा' में उक्ति का चमत्कार भी कुछ मिले
है और रंगामयता भी ।

गूर की गूरा का उदात्त चमत्कार-प्रधान पद भी गूर ने बहुत
कहे हैं, जैसे—

(क) गूर करहु बीना कर बरिबो ।

मोटे मृग नाहि रथ हाँसो, नाहि होय काव को हरिबो ॥

(ख) मन साधन को बेनु तियो कर, मृग बाँके उदरुनि न बरी ।

अनि मानुर हर्ष गिट् तियो कर अँहि भामिनी को करन हरी ॥

रामा मन कहान के लिये, किसी प्रकार राम लिये के लिये
बीना लेकर बीनी । उग बीना या बेनु के वर में अँहि होय चरवा
रथ का शिव मह मरा और चरवा के रथ मरा व राम और भी
मरा गई । राम पर चरवा के गिट् का बिच बनारसी लगी बिना मृग चरवा
मारा मारा । बामनी की 'चमत्कार' में भी बहुत उक्ति जो को ली गई है—

गहे बीन मकु रैन विहाई । ससि बाहन तहं रहं ओनाई ॥

पुनि धनि सिंह उरेहं लागे । ऐसिहि बिया रैन सख जागे ॥

जायसी की पद्यावत विनम्र मवन १५९७ में बनी थीर मूरगागर सवन १६०७ के लगभग बन चुका था । अतः जायसी की रचना कुछ पूर्व ही मानी जायगी । पूर्व की न सही, तो भी किसी एक ने दूसरे से यह उक्ति ली हो, इसकी सम्भावना नहीं । उक्ति मूर और जायसी दोनों से पुरानी है । दोनों ने स्वतंत्र रूप में इसे कवि-परम्परा द्वारा प्राप्त किया ।

वही-वही मूर ने रत्पना को अधिक बढ़ाकर, या यों कहिए कि वहा का सहारा लेकर—जंमा पीछे विहारी ने बहुत बिया—वर्णन कुछ भस्वामाधिक कर दिया है । चन्द्र की दाहकता से पिड़कर एक गोपी राधा में बहती है—

कर धनु भं किन चंदहि मारि ?

तु हृदयाय भाय भंदिर चढ़ि ससि सम्मुख दर्पन बिस्तारि ।

पाही भाति बुलाय, मुकुर महि भति बल खंड खंड करि डारि ॥

गोपियो का विरहोन्माद कितना ही बढ़ा हो, पर उतनी बुद्धि बिल्कुल लुप्त हो भी दिखाना स्वाभाविक नहीं जँचता । कविता में मूर की मूस का चमत्कार ही सब कुछ नहीं है ।

पावस के प्रसन्न-गर्जन आदि वियोगिनी को सतापदायक होते हैं, यह जो एक बड़ी खली आती हुई बात है । मूर ने एक प्रमग कल्पित करके इस बात को ऐसी युक्ति में रख दिया है कि इसमें एक अनूठापन आ गया है । वे कहते हैं कि पावस आने पर मखिया राधा को मालूम ही नहीं होने देती कि पावस आया है । वे और बातें बताकर उन्हें बहवाती रहती हैं—

यात मूजान यों बहरायति ।

मुनहु रयाम । खं सली सयानो पावस श्रुतु राधहि न मुनावनि ।

पन गरजत सी कहत कुसलमनि मूजन गुहा सिंह समुसावनि ॥

महि दामिनि हुस-बबा सोल चढ़ि, किरि बयारि उलटी शर सावनि ।

भावों आलोचना

जात २४५१

सूर को बचना-रचना की चतुराई और शब्दों की कौशल का दोष दुःशोक था। बीच-बीच में आए हुए कूट पद इस बात के प्रमाण हैं, कि या तो अनेकार्थवाची शब्दों को लेकर या किसी एक वस्तु को दर्शा करने के लिए अनेक शब्दों की लम्बी लड़ी जोड़कर खेलबाड़ किया हुआ है। सूर की प्रकृति कुछ फोड़ासील थी। उन्हें कुछ संतुष्टिमात्रे का दोशोक था। लीला-पुरुषोत्तम के उपासक कवि में यह विशेषता होती है चाहिए। तुलसी के गम्भीर मानस में इस प्रवृत्ति का आभास नहीं मिलता अपनी इस शब्द-कोशाल की प्रवृत्ति के कारण सूर ने व्यवहार के कुछ सामयिक शब्दों को लेकर भी एक साथ जगह उक्तियाँ बाँधी हैं, जैसे—

दोमधपद

साँचो सो लिखवार कहावै । सुखिय
कप्या-ग्राम नसाहत करि कै, जमा बाँधि ठहरावै ।

जमिदारी

मन्त्राय करं कंद अपनी में, जान जहतिपा सावै ।
काव्य में इस प्रकार की उक्तियाँ ठीक नहीं होतीं। भाषाओं के 'अप्रतीतत्व' दोष के अन्तर्गत इस बात का संकेत किया है। सूर भी १२ ही साथ जगह ऐसी उक्तियाँ लाए हैं, पर वे 'ग्राम-कोशाली' ऐसी पुरुष के लिये नमूने का काम दे गई हैं।

21 नी 11/12/21

गोस्वामी तुलसीदास

कला और व्यवहार-धर्म

(ले० डॉ० श्यामसुन्दरदास व डॉ० पीताम्बरदास)

9

कला—

"गोमाईंजी भविष के दोन में जितने महान थे उतने ही कविता के दोन में भी । वस्तुतः उनकी कविता उनकी भविष का ही प्रतिरूप थी ।" उनकी भविष ही बागी का आवरण पहनकर कविता के रूप में व्यक्त हुई थी । उनकी कविता अपने आप अपना उद्देश्य नहीं थी । 'कवि न होऊ नहि चतुर प्रवीणा' में जहाँ उनके विनय का पना चलता है वहाँ यह भी संकेत है कि वे अपने को कवि न समझकर कुछ और समझते थे । जिस वही उम्र में उन्होंने कविता करना आरम्भ किया था उसमें पता चलता है कि जिसे मिल्टन उप्रतमनाओ की निर्वल्ला कहते हैं वह यशोविप्ता उन्हें छू छव नहीं गई थी । उन्होंने जो कुछ कहा है वह केवल 'कवि-चानुपे' के फेर में पड़कर नहीं बल्कि इसलिये कि बिना कहे उनका जी नहीं मानता था, उन्हें धन नहीं मिलता था । 'स्वात मुलाय मतिमज्जुलमातनोति' में के 'स्वात-मुलाय' का यही तात्पर्य है । रामचन्द्र के अनन्त रूप, अनन्त धाविन, अनन्त धौल का जो एकाति आनन्दानुमूति उनको हो रही थी उसे वे आत्म-परिवृत्त होकर ही उपभोग नहीं कर सकते थे । मगार को भी उसमें भागी कर लेना अनिवार्य था । मही आकुलता कविता को अबाध प्रवाह देती है । प्रयत्न-प्रभूत कविता यास्तविक कविता नहीं बही जा सकती । उसमें कविता का बहिरंग हो सकता है किन्तु यह आवश्यक नहीं कि जहाँ कविता का बहिरंग दिखाई दे वहीं उसका आन्तरिक भी मिल जाय । बुराकि कविता हृदय का स्फापर है, दिमाग को लुल्लावर उसका आवानि नहीं किया जा सकता । जो आपसे आप उदय न हो वह बास्तविक कविता नहीं । सच्ची, स्पष्ट

आवस्य आलोचना

करती हुई सजीव कविता के लिये यह आवश्यक है कि कवि की स्त्री-वृत्तियाँ वर्ष्य विषय के साथ एकाकार हो पायें। जब कवि की स्त्री-भावनाएँ एकमुख होकर जागरित हो उठती हैं, तब कवि का हृत्कण ही भावुक उद्गारों के रूप में प्रकट होने लगता है। इस अविच्छिन्न लय में कवि की ओर से प्रयत्न की आवश्यकता होती है और न के-हरी रुकावट उसे रोक ही सकती है। गंगाधरों में इन तत्त्वों का काष्ठा हो गई थी, इसमें कोई सन्देह नहीं। उनकी निम्न मनोवृत्ति-भिमुख होकर जागरित हुई थी, इसी से—

राम के अतिरिक्त

१. 'प्रेम उमगि कवितायली घली सरित सुखि तार ।

राम-बरा-भुरि मिलन हिन तुलसी हरत अतार ॥'

राम के साथ उनकी मनोवृत्तियों का इतना तारान्वय हो रहा था कि जो कोई वस्तु उनके और राम के बीच सम्बन्ध-बोझ-अने जो-कदापि उनके हृदय का लगाव न हो सक्ता था। यही कारण है कि राम के अतिरिक्त किसी के विषय में उन्होंने अपनी वाणी का प्रयोग नहीं किया। उनकी वाणी एकमात्र राम के मनोमान से समोभिषिक्त हुई है। ऐतिहासिक के कवियों की तुलना के जगह-जगह रामों के बरत-पुत्रों के दुखारी बनने लगे हैं। नरराज बनने के अनुभव बरत

जोहे

प्राप्त

अन

गुन-गाना ।

तिर

भुरि

तिर

लागि

बलिगाना ॥'

शहर के मुख्य में उठेन जा हो बार दोरे पड़े के भी इतिहास

नाथ हनुमन्नाटककार बबीद्वर की भी, क्योंकि हनुमन्नाटक से भी महा-
यत्ना ली है। इनके अनिरिक्त योगबलिष्ठ, अध्यात्मरामायण, महारामायण,
भृगुडि रामायण, याज्ञवल्क्यरामायण, भगवद्गीता, श्रीमद्भागवत, भार-
द्वाजरामायण, प्रसन्नराघव, अनर्घ्यराघव, रघुवन आदि गेकडों ग्रंथों की
छाया रामचरितमानस में मिलती है। श्री रणवीरमहर्षि ने रामचरित-
मानस के उद्गमो के संबंध में बड़ा सराहनीय और परिश्रमजन्य अनु-
संधान किया है, जिससे पता चलता है कि गोसांईजी की प्रत्येक पक्ति
महाकवि ने ली गई है।

यहां पर कुछ उदाहरण दे देना उचित होगा—

भूक होइ बाधाल, पंगु चडइ गिरिबर पहन ।
जामु कृपा सो दयाल, इखउ सकल बलिमल दहन ॥

(भूकं करोति बाधालं पंगुं संप्रयते गिरिम् ।
पातृपा तमहं वदे परमानन्द माधवं) ॥

बंदुं मुनि-पद-कांज, रामायन जेहि निरमण्ड ।
सखर शकोमल भंजु, शेष-रहित दूधन सहित ॥

(नमस्तस्मै कृता येन पुण्या रामायणो कथा ।
सद्वपणापि निर्दोषा सखरापि शकोमना) ॥

एक छत्र एक मुकुट भनि, राज बरननि पर जोउ ।
तुलसी रघुबर नाम के बरन बिराजत होउ ॥

(निर्वर्ण रामनामेकं केवलं च स्वर्गाधिकम् ।
सर्वेषां मुकुटं छत्रं अकारो रेफाद्यजनम्) ॥

ब्रह्मांडनिवासा निर्मितमाया रोम रोम भनि बंध बहं
मम उर दासी यह उपहासी गुनत वीर भनि विर न रहं

(अहरे तव दृश्यने ब्रह्मांडाः परमाणवः ।

॥ यमोदर संभृत इति लोचान् विदंभने ॥)

राती प्रकार विविधा बांड में वर्ण और रातु जनु के

भारत मानोचना

सद्भागवा ने जिसे गढ़ है । जहाँ-जहाँ गोसाईजी ने दार्शनिक विचार
 दिया था-वही विशेष भगवद्गीता की व्याख्या की है ।
 रामचरितमानस में ही मरी, प्रायः सब अर्थों में उन्होंने संज्ञा है
 मदी थी है । यहाँ वेदों की व्याख्या ने एक उदाहरण दिये—

भाषरो भयम जइ जानरो जरा जनम,
 गुरु के सायक टकाउतेता मग में ।
 गिरघों हिय हृदिर हराम हो हराम हव्यो,
 हाइ हाइ करत परीना काल कग में ॥
 तुलसी, यितोरु हवं त्रिलोकपति-सोक गयो,
 नाम के प्रताप, बात विदित हैं जग में ।
 सोइ रामनाम जो सनेह सों सपत जग,
 ताकी किमि मतिमा कही हं जात जग में ॥
 (देवाचूकरदासकोन निहतो झलेछो जराबजरो
 हा रामेतिहतोऽस्मि भूमिपतिनो जल्पंस्तनुं त्यक्तवान् ।
 तीर्थो गोपदपद्भवाणवमहो नाम्नः प्रभावात् पुनः
 किंचिच्च यदि रामनामरसिकास्ते वांति रामास्पदम् ॥)

बाराहपुराण ।

१५ दृष्टि से देखने पर गोसाईजी के अपनी रामायण को 'छत्रों
 त्व सय प्रपन्न को रस' कहने की व्याख्या प्रकट हो जाती है । गणित,
 तिय, दर्शन आदि सभी शास्त्रों का उन्हें पूर्ण ज्ञान था । तुलसी ~~मन्त्र~~
 नका गणित ज्ञान भली-भाँति प्रकट होता है । नी के पहाड़े का यह
 समय प्रयोग देखिए—

तुलसी राम सनेह कव त्यागु सकल उपचार ।
 जैसे घटत न अंक नौ नौ के लिखत पहार ॥
 १ प्रकार 'जग ते रहू छतीस (३६) हवं, राम चरन छ. तीन
 में अकों की स्थिति का अच्छा परिज्ञान प्रकट होता है ।

‘सास्त्रं सुविनिनयति पतिं हेतिप्र । भूप सुनेविनयत महि लेखिप्र ॥
 राविप्र नारि जदपि उर माहीं । जुइति सास्त्रं नृपती धत नाहीं ॥
 यह निम्नलिखित श्लोक का अनुवाद है—

१ ‘सास्त्रं सुविनिनयति प्रतिवितनीयं
 स्वाराधिरोऽपि नृपतिः परित्यजनीयः ।

अंकं त्विच्छाति युक्तिः परित्यजनीयः

सास्त्रे नृपे च युक्तौ च कुतो वदित्वम् ॥’

इसमें उपदेश चाहे जितना अच्छा हो, या भाव सासारिक व्यवहार को देखने हुए चाहे जितना गलत हो, परन्तु जिस स्थान पर गं साईंजी

ने इसे बताया है उस स्थान पर इगला कहना उचित नहीं है। यदि सीतासे राम में प्रेम न होने के कारण स्वयं अपनी इच्छा से रावन के साथ चले होतीं तभी यहाँ पर इगली मंगलि बँडी । परन्तु जिस सीता के लिये उन के द्वार में—

‘हा गुनगानि जानकी सीता । रुच सोल ब्रत मेम पुनीता ॥’
यह पारना हो, उसको उद्देश्य करते “जुवति X X X बस नहीं”
कहना गर्वदा अनुचित और अप्राप्तिक है।

परन्तु इतने बहुर प्रथ में गुण-वाहुल्य के बीच यह एक अनौचित्य रह-
गु जाता है।

वाल्मीकि ने बरात के जनकपुर से चले जाने के पीछे मार्ग में परशु-
राम का मिलना लिखा है। परन्तु गोसाईजी ने इस घटना को हनुमन्नाटक
के अनुसार धनुष-भग के पीछे यज्ञ-भूमि में ही घटित किया है। इसे
एक तो लड़ने के लिये उद्यत राजाओं की बोलती बन्द हो गई और दूसरे
बरात के टोके जाने की अमंगल घटना न हुई। परन्तु गोसाईजी ने हा-
मन्नाटक से भी इस अपसर पर कुछ भेद रखा है। हनुमन्नाटक के अनुसार
रामचन्द्र का परशुराम से वायुद भी हुआ था। परन्तु गोसाईजी ने इसे
रामचन्द्र के महत्व के अनुकूल न समझकर लक्ष्मण के घाटे में रखा है।
जानकी-मंगल में न जाने क्यों गोसाईजी ने इस विषय में वाल्मीकि ही का
अनुसरण किया है। गीतावली में तो यह घटना गोसाईजी ने दी ही नहीं है।

वाल्मीकि ने जयत का काक-रूप में आकर सीताजी के स्तन-देश
में चोंच मारना लिखा है और इस कथा को सुन्दरकांड में सीता के मुँह
से हनुमानजी के प्रति कहलाया है, जिससे वे राम के पास जाकर सीता
से मिल जाने का प्रमाण दे सकें। गोसाईजी जगज्जननी सीता के विषय
में ऐसी बातें कह नहीं सकते, इससे उन्होंने अव्यात्मरामायण के अनुसार
वरण में चोंच मारना लिखा है और इस घटना का उल्लेख पंचवटी के ही
वर्णन के अन्तर्गत किया है।

सेतुबन्ध के समय शिवजी की स्थापना की ओर वाल्मीकि ने राम-

‘अब गुरु जागु सत्ता गय, भजेहु भीहि बुहु नेम ।

सरा सर्वगत सर्वज्ञ, जानि करेहु अनि भैम ॥’

यदि कोई पुरोहीय बात घेरे कि बन्दरो के ही ऊपर हम बचन का प्रभाव हो सकता था, तो उनके लिये अवकाश है । परन्तु मन्त्रों के लिये इसी में शौर्य है । बड़ी-बड़ी मोसाईसी अममय बातें भी लिख पाए हैं । बादलों का धड़ा के कारण किसी पक्षिक पर छाया करने की उद्भावना अस्वाभाविकता की सीमा तक नहीं पहुँचती । पृथ्वी पर न उतरकर देवताओं के आवास ही ॥ कूट गिराने तक भी मनोमत है, किन्तु राम के लिये सीधे स्वर्ग में दूध का रावण से लड़ने के लिये रथ भेजना अस्वाभाविक लगता है ।

जिम प्रकार मोसाईसी का जीवन राम-मय था उसी प्रकार उनकी बलिता भी । एक राम को अपनाकर उन्होंने सारे जगत् को अपना लिया । रामचरित कहकर कोई वस्तु ऐसी न रही जिसके विषय में उनके लिये

कहना सोच रह गया हो। रामचरित्र की व्यापकता में उन्हें अनोखी रूप के संपूर्ण कौशल के विस्तार का सुयोग प्राप्त था। उन्हीं में उन्होंने दोनों सूक्ष्म पर्यवेक्षण-शक्ति का परिचय दिया। अन्तःप्रकृति और बाह्य प्रकृति दोनों से उनके हृदय का समन्वय था। दोनों को उन्होंने निरन्तर परिस्थितियों में देखा था। उनकी पारंगामी सूक्ष्म दृष्टि उनके अन्तस्तन तक पहुँची थी। इसी से उन्हें चरित्र-चित्रण और प्रकृति-चित्रण दोनों में सफलता प्राप्त हुई। परन्तु गोसाईंजी आध्यात्मिक धर्मशील प्रकृति के मनुष्य थे। सत्यके संरक्षक राम के प्रेम ने उन्हें संरक्षण के मूल शीलमय धर्म का देश बनाया था, जिसके संरक्षण में उन्हें प्रकृति भी संलग्न दिखाई देती थी। ऐसा सरोवर का वर्णन करते हुए वे कहते हैं—

फलभार नम्र बिटप सय रहे भूमि निअराइ ।
पर उपकारी मुख जिमि नवाह सुसंपति पाइ ॥
सुखी मीन सय एकरस अति अगाध जल माहि ।
जया धर्मशीलन्हि के दिन सुख संजुत आहि ॥'

प्राकृतिक दृश्यों में शील संरक्षिका धर्मशीला नीति की यह छान उनके काव्यों में सर्वत्र दिखाई देती है। किष्किष्काकांड के अन्तर्गत शारदार ऋतु के वर्णन इसके बहुत अच्छे उदाहरण हैं। यह गोसाईंजी महत्त्व है कि धर्म-सादृश्य, गुणोत्कर्ष आदि अलंकार-योजना के सामान्य रसों का निर्वाह करते हुए भी वे शील और सुख के प्रसार में सफल हैं।

गोसाईंजी का प्रकृति से परिचय केवल परम्परागत नहीं था। जिने प्रकृति के परम्परागत प्रयोगों को स्वीकार किया है, परन्तु वहीं जहाँ तक ऐसा करना सुख के प्रतिकूल न पड़ता। शीला के विरोध स्थापन करते हुए रामचन्द्र के इस कथन में—

संजन, मुकु, कपोत, भृगु, भीना । मयुष-निकर, कीरिला प्रबीना ॥
जुन्दहली, बाहिम, बाहिनी । कमल, सरस सति, अहि-भाहिनी ॥

बलन-यान, मनोज-धनु, हंसा । गज, केहरि, निज सुनत प्रसंता ।

धोकर, बनक, बदलि, हरपाही । मेकु न संक सकुच मन माहीं ॥'

उन्होंने बहिष्करण का ही अनुसरण किया है । ये उपमान न जाने कब से भिन्न-भिन्न अंगों की, विशेषकर स्त्रियों के अंगों की, सुन्दरता के प्रतीक समझे जाने लगे । मूल रूप में ये मनुष्य जाति की, और विशेषकर उनके अधिक भावुक अंग अर्थात् श्विन्ममुदाय की, नित्यगंसौन्दर्य-प्रियता के चोतक हैं परन्तु आगे चलकर इनका प्रयोग केवल परम्परा-निर्वाह के लिये हीने लगा । गोमार्दजी के भगवांन कवि भूरदास और केसवदास आदि में यही बात देखी जाती है । परन्तु गोमार्दजी ने परम्परा के अनुसरण से ही सीखा कि, ऐसी बात नहीं । उन्होंने अपने लिये अपने आप भी प्रकृति का पर्यवेक्षण किया था । उनके हृदय में प्राकृतिक सौंदर्य से प्रभावित होने की क्षमता थी । उनके विस्तार हृदय में जड़ और चेतन, सृष्टि के दोनों अंग एक ही उद्देश्य की पूर्ति करते हुए उद्भवित होने हैं । उनकी दृष्टि में स्थानि-भूरित हृदय को लेकर रामचन्द्र को मनाकर लौटा लाने के लिये जानेवाले शील-निधान भरत के उद्देश्य में प्रकृति की भी सहानुभूति है । इसीलिये उनके मार्ग को सुगम बनाने के लिये—

‘किए जाहि छाया जलद, सुखद बहति बर बात ।’

प्रकृति की सरल सुन्दरता उनको सहज ही आकर्षित कर लेती थी । पशियों का बलरव, जिसमें वे परमात्मा का गुणगान सुनते थे, उन्हें आनन्द प्रदीप्त होता था—

बोलत जलकुबकुट बलहंसा । प्रबु बिजोकि जनु करत प्रसंता ॥

सुन्दर लग मन गिरा सोहाई । बात पचिक जनु सेत सोलाई ॥'

पंक्ति का मधुर ध्वनि उन्हें इनकी मनमोहक आनन्द पट्टी थी कि उरसे मुनियों का भी ध्यान बग हो जाय ।

‘जड़ चेतन भय जोव जन्त’ सब को राममय देखनेवाले गोमार्दजी का हृदय यदि प्रकृति की सुन्दरता के आगे उछल न पड़ता तो यह आश्चर्य की बात होती ।

प्रति-भौतिक के बिना उनके हृदय में जो कोमल स्थान था उसे का प्रभाव है कि हिन्दी में स्त्री-विवरण-भाव दे देने की परम्परा से ऊपर उठकर कहीं-कहीं उनकी प्रतिभा ने प्रति के पूर्ण चित्रों का निर्माण किया है। प्राकृतिक दृश्यों के यथातथ्य चित्रण की जो क्षमता यत्र-तत्र गोर्खाजी में दिखाई देती है वह हिन्दी के और किसी कवि में देखने को नहीं मिलती।

‘रायन् भीत पय उत्तर करारा । चहुं दिशि किरैउ धनुष जिमि मारा ॥
मरी पाय सर राम दम दाना । सकल कलुष कलिताउत नाता ॥
चित्रकूट जनु अचल अहेरी । धुक्क न धात मार मुठ भेरी ॥’

इस डेढ़ चौपाई में गोर्खाजी ने चित्रकूट और उसके पाद पर बहने वाली मदाकिनी का गुन्दर तथा यथातथ्य चित्र अंकित कर दिया है और साथ ही तीर्थ का माहात्म्य भी कह दिया है। प्रस्तुत और अप्रस्तुत का इतना सार्थक समन्वय गोर्खाजी की ही कला का कोशल है।

गीतायली में उन्होंने चित्रकूट का जो चित्र अंकित किया वह और भी मनोरम और पूर्ण है—

‘सोहत स्याम जलद मूढ धोरत धानु रंगमंगे संगनि ।
मनहुं आदि अंभोज बिराजत सेवित सुरमुनि-भुगनि ॥
सिखर परस धनयदहि मिलति यगयाति सो छत्रि कबि धरनी ।
आवि बराह बिहरि बारिधि मनो उठयो ॥ दस्तन परि धरनी ।
जल-जुत बिमल तितनि शलकत नम बन-प्रतिबिम्ब तरंग ।
मानहुं जय रचना विचित्र बिलसति बिराट अंग अंग ॥’

इसी प्रकार पंथा सरोवर पर जल पीने के लिये आए हुए मृगों के झुंड का यह चित्र भी वस्तुस्थिति को ठीक-ठीक आँखों के सामने खींच देता है—

‘जहँ तहँ पिपहि विविध मृग नीरा ।
जनु उदार गृह जाचक-भीरा ॥’

भोगनि, मनुष्य, मनीष, मूर्ख, हेम, इति के पाठे ।

पाननि, मगनि, सिन्धोनि, विषनि, धने मृगी उर आठे ॥

मृग के पाठे दंडने हुए, दान दंडने के निम्न गतने हुए, मृग के भाग जने पर दूरे तक दृष्टि दानने हुए और हाथकर परिश्रम जमाने हुए, राम का बंगला मनीष चरनिष आंगी के नामों का जाता है ।

राष्ट्र प्रहृति मे अविष गांगार्द्री की मूढम अन्तर्दृष्टि अन्तर्प्रति पर पड़ी थी । मनुष्य-जन्माव मे उनका मनीषीण परिचय था । मित्र-भित्र अग्न्याग्नी में पड़कर मन की बया दसा होती है, इसको वे भली भाँति जानते थे । इसी मे उनका चरित्र-चित्रण बहुत पूर्ण और दाय-रहित हुआ है । राम-चरित्रमानस में प्रायः सभी प्रकार के पात्रों के चरित्र-अवन में उन्होंने अपनी मिदहस्तता दिखाई है । हमारे के उत्कर्ष को अकारण ही न देग सकनेवाले दुर्जन विम प्रकार किमी दूसरे व्यक्ति को अपनी मनोवृत्ति देने के लिये पहले स्वयं स्वार्थत्यागी बनकर अपने को उनका हितपी अताकर उनके हृदय में अपने भावों को भरते हैं, इसका मयरा के चरित्र में हमें अच्छा शिक्षार्थ मिलता है । दुर्जनो की जितनी चालें होती हैं उन्ही के दिग्दर्शन के लिये माना मरस्वती मयरा की बिह्वा पर बैठी थी ।

जिम पात्र को जो स्वभाव देना उन्हें अभीष्ट रहा है उसे उन्होंने कोमल वय में बीज-रूप में दिखलाकर आगे बढ़ते हुए मित्र-भित्र परि-
निमित्तों में उत्तम-नैतिक विवास दिखाया है । रामचन्द्र के जिम स्वार्थ-

राम को हम बादुरंग से विजित, ग्यायनः स्वायत्त और वस्तुन हाथ में
 आर हु! लंका के समूह राजा को बिना हिनक विभीषण को छोड़ देंगे।
 देगते हैं यह एकाकी भाई हुई उमंग का परिणाम नहीं है। वह रामचन्द्र
 धान्यकाग ही से जमानेक विजय पाया हुआ स्वभाव है। उगे हम बीगा
 के गेत में छोटे भाद्यों ने जीतकर भी हार मानने हुए बालक राम ने
 अन्य पुत्रों की उमेशा कर जेठे पुत्र को ही राज्याधिकारी माननेवाली बन्धन
 युक्त प्रथा पर विचार करते हुए युवा राम में, और फिर प्रसन्नता से राज
 छोड़ कर यनपासी ऋषि-मुनियों की भाति तपोमय जीवन बिताते हु
 यनवासी राम में देगने हे।

रामचरितमानस में राज्य का जितना चरित हमारी दृष्टि में
 पड़ता है उसमें आदि से अन्त तक उसकी एक विशेषता हमें दृष्टिगत होती
 है। यह है घोर भौतिकता। कदाचित् आत्मा की उपेक्षा करते हुए भौतिक
 शक्ति का अर्जन ही गोगाईजी राजसत्त्व का अभिप्राय समझने थे। उस
 अपार बल, विद्वयिष्ठुन वैभव, उसकी घमंहीन शासन-प्रणाली जिन में
 ऋषि-मुनियों से कर समूल किया जाता था, उसके राज्य भर में धार्मिक अभि-
 रुचि का अभाव, ये सब उसके भौतिकवाद के चोतक हैं। प्रश्न उठ सकता
 है कि यह बड़ा तपस्वी भी तो था? किन्तु उसके तप से भी उसकी भौतिकता
 का ही परिचय मिलता है। वह तप उसने अपनी आध्यात्मिक उन्नति या
 मुक्ति के उद्देश्य से नहीं किया था वरन् इस कामना से कि भौतिक सुख
 को भोगने के लिये यह इस शरीर से अमर हो जाय।

हनुमानजी में गोगाईजी ने सेवक का आदर्श खड़ा किया है। वे
 राम के सेवक हैं। गाढ़े समय पर जब सबका धैर्य और शक्ति जवाब दे
 जाती है तब हनुमानजी ही से राम का काम सघता है। समुद्र को लाघ-
 कर सीता की खबर वही लाए। लक्ष्मण को शक्ति लगने पर द्रोणाचल
 पर्वत को उखाड़ ले आकर उन्होंने सजीवनी बूटी प्रस्तुत की। भक्त के
 हृदय में बसने की राम की प्रतिज्ञा जब व्यवधान में पड़ी तब उन्होंने अपना
 हृदय चीरकर उसकी सत्यता सिद्ध की। परन्तु हनुमानजी के चरित्र

वै एक घात से कुछ असामंजस हो सकता है । वे सुग्रीव के सेवक थे । सुग्रीव ने बड़कर राम की भक्ति करके क्या उन्होंने सेवाधर्म का व्यतिक्रम नहीं किया ? नहीं, लंका-विजय तक वास्तव में उन्होंने सुग्रीव की सेवा कभी छोड़ी ही नहीं और लोगों से कुछ दिन बाद तक जो वे यमोद्व्या में राम की सेवा करते रहे वह भी सुग्रीव की आज्ञा से—

‘दिन दसि करि रघुपति-पद-सेवा । पुनि तय चरन बेसिहीं देवा ॥’

पुन्य पूज तुम पवन-कुमारा । सेवहु जाइ कृपा-आगारा ॥’

इसी प्रकार भरत के हृदय की सरलता, निर्मलता, निःस्पृहता और धर्म-श्रवणता उनकी सब बातों से प्रकट होती हैं । राम खुरी से उनके लिये राख्य छोड़ गए हैं, कुलगुरु वशिष्ठ उनको सिंहासन पर बैठने की अनुमति देने हैं, कौसल्या अनुरोध करती हैं, प्रजा प्रार्थना करती है, परन्तु सिंहासनासीन होना तो दूर रहा, वे इसी बात से दुःख हैं कि लोग कैकेयी के कुपकर्मों उनका हाथ न देखें । वे माता से उसकी कुटिलता के लिए रुष्ट हैं । परन्तु साथ ही वे अपने को माता से अच्छा भी नहीं समझते इसी में उनके हृदय की स्वच्छता है । जब माता ही बुरी है तो पुत्र भला कैसे हो सकता है ?—

‘भानु मंद में साधु सुधाली । उर अस मानत कोटि कुधाली ॥’

उनको सिंहासन स्वीकार करने के लिए आग्रह करने वाले लोगों से उन्होंने कहा था—

‘कैकेयि-नुग्रह कुटिल-मति, राम-विमुख नत-लाज ।

तुम्हें चाहत सुख मोह-बस, मोहि से अपम ॥ राज ॥’

भरत के सबच में चाहे यह बात न खपती और वे प्रजा का पालन बढ़े प्रेम से करते जैसा उन्होंने किया भी, परन्तु उनका राख्य स्वीकार करना महत्वावांशी राजकुमारों और द्वेषपूर्ण सौतेले के लिये एक बुरा मार्ग माल देता, जिससे प्रत्येक अभिषेक के समय विनीत विनीत बाई की आग्रह बनी रहती । इसी बात को दृष्टि में रखकर उन्होंने कहा था—

‘मोहि राज हठि बेदहज जबही । रसा रसातल पदाहि तबरी ॥’

भरत की लोक-भर्यादा की, जिसका ही दूसरा नाम धर्म है, रक्षा की इस चिंता ने ही राम को—

‘भरत भूमि रह राउरि राखी ।’

कहने के लिये प्रेरित किया था। उमड़ते हुए हृदय और बाष्प-मग्न कंठ से भरत के राम को लौटा लाने के लिये चित्रकूट पहुंचने पर जब एन ने उनसे अपना धर्म-संकट बतलाया तब उसी धर्म-प्रवणता ने उन्हें राम का भार स्वीकार करने के लिये बाध्य किया। परन्तु उन्होंने केवल राम के कर्तव्य की कठोरता को स्वीकार किया, उसके सुख-वैभव को नहीं। सुख-वैभव के स्थान पर उन्होंने बनवासी का कष्टमय जीवन स्वीकार किया। जिससे उनके उदाहरण से धर्मोत्थान की आशंका दूर हो जाय।

परन्तु वास्तविक मानव-जीवन इतना सरल नहीं है जितना सामान्यतः बाहर से दीखता है, या ऊपर के वर्णन से प्रकट हो सकता है। मनुष्य के स्वभाव में एक ही भावना की प्रधानता नहीं रहती। प्रायः एक से अधिक भावनाएं उसके जीवन में स्थित होकर उसके स्वभाव की विशेषता लक्षित करती हैं। जब कभी ऐसी दो भावनाएं एक दूसरे की विरोधिता होकर आती हैं उस समय यदि कवि इनके चित्रण में किंचित् भी असामर्थ्य करे तो उसका चित्रण सदीप हो जायगा। उदाहरण के लिये गोसांझी ने लक्ष्मण को प्रवृत्त प्रकृति दी है, परन्तु साथ ही उनके हृदय में राम के लिये अगाध भक्ति का भी सृजन किया है। जहां पर इन दोनों बातों का विरोध न हो वहां पर इनके चित्रण में उतनी कठिनाई नहीं हो सकती। जनक के ‘बीर-बिहीन मही मैं जानी’ कहते ही वे तमक कर कह उठते हैं—

‘रघुवंसिन महं जहं कोउ होई । तेहि समाज अत कहं न कोई ॥’

परशुराम के रोष भरे वचनों को सुनकर ये कोरी-कोरी गुनाने में कुछ उठा नहीं रखते—


‘भगुवर परसु बेलायहु मोही । विप्र बिचारि बची नृप मोही ॥

मिते न कयहुं सुभट रन गाड़े । डिम बेवता घरहि के गाड़े ॥’

और भरत को ससैन्य चित्रकूट की ओर जाने देस राम के अनिष्ट—

है, क्योंकि यही घर जोष प्रगट करना लक्ष्मण के स्वभाव के विशेषण होगा। ऐसा करते में ये राम की शक्ति के दिग्गज बना करते। लक्ष्मण के बनबाग की यात्रा का सब पता पता जब राम मन के लिये तैयार हो चुके थे। एक पक्षानुगारी भूत की भाँति वे भी खुशवार बन जाने की तैयारी करने लगे। यह बात नहीं कि उन्हें जोष न हुआ हो, जोष हुआ अवश्य था, परंतु उन्होंने उसे दबा दिया। गर्मज बरत को बिचकूट आने का देखकर—

‘आह बना भल सकल समाज । प्रगट करी रिसि पाछलि आज ।’

कहकर उन्होंने जिस रिग का —  — गाया था वह यही रिग है जिसे उन्होंने उस समय ‘तोसाईजी ने भी इस अवसर

की गम्भीरता की रक्षा के उद्देश्य से लक्ष्मण के मन की दशा का बताने नहीं किया।

इसी प्रकार लंका जाने के लिये प्रस्तुत रामचन्द्र ने तीन दिन तक समुद्र से रास्ता देने के लिये विनय की। लक्ष्मण को विनय की बात पट्ट न आई। परन्तु उन्होंने अपनी अरुचि प्रकट नहीं की। जब रामचन्द्र ने समुद्र को अग्नि-याणों से सोलने का विचार करके धनुष खोला तब लक्ष्मण को प्रसन्नता दिखला कर गोसाईंजी ने इस अरुचि की ओर धकेल दिया।

भाव-द्वंद्व का एक और उदाहरण लीजिए। कंकैयी के कहने पर रामचन्द्र न बन जाने का निश्चय कर लिया है। इस समय दशरथ-राम-प्रेम और उनकी सत्य-प्रतिज्ञता दोनों कत्तोटी पर हैं और उनके साथ-साथ गोसाईंजी का चरित्र-चित्रण-कौशल भी। पहले तो बन जाने की आज्ञा गोसाईंजी ने दशरथ के मुह से नहीं कहलाई है। 'तुम बन चले जाओ' अनन्य प्रेम के कारण दशरथ यह कह नहीं सकते थे। वे चाहते नहीं थे कि राम बन जाय। वे चाहते तो इस समय अपने वचन की अवहेलना करके रामचन्द्र को बन जाने से रोकने का प्रयत्न कर सकते थे। परन्तु वचन-भंग करने का विचार भी उनके मन में न आया। हा, वे मन ही मन देवताओं को मनाते रहे कि राम स्वयं ही—

‘वचन मोर तजि रहहि घर परिहरि सील सनेहु।’

सत्य-प्रतिज्ञ दशरथ अवमानित पिता होकर रहना अच्छा समझते थे, परन्तु राम का विछोह उन्हें असह्य था। उनका यह राम-प्रेम कोई छिपी बात नहीं थी। कंकैयी को समझाते हुई विप्र-वधुओं ने कहा था—‘नृप कि जिइहि बिनु राम’। लक्ष्मण को समझाते हुए राम ने इस आज्ञा की ओर संकेत किया था—‘राउ बूढ, मम दुख मन माहो’। हुआ भी यही। वचनो की रक्षा में जो राजा छाती पर पत्थर रखकर प्रिय पुत्र राम को बन जाते हुए देखते हैं, उन्हीं को हम राम के विरुद्ध में स्वयं जाया हुआ देखते हैं।

इस प्रकार जिस स्वभाव का व्यक्ति जिस अवस्था में जैसा काम करता, गोसाईजी ने उसे बना ही करते दिखाया है । इनका केवल एक कववाद हमें मिलता है । वह है राम का बालि को छिन्नकर मारना । यह शीलमागर न्यायप्रेमी राम के स्वभाव के अनुकूल नहीं हुआ है—

‘मारेहु मोहि ब्याध की नाई ।’

परन्तु समय बालि के किए हुए इस दोषारोपण का राम कोई मतोप-पन्नक उत्तर नहीं दे सके ।

‘मनुज-बधु भगिनी सुत नारो । सुन सठ कन्या राम ये चारी ।

नाहि कुनुष्टि बिलोकइ जोई । ताहि बधे कुछ पाप न होई ॥’

मनुज-बधु यदि कन्या के समान हैं तो क्या अग्रज-बधु भी माता के समान नहीं हैं ? सुग्रीव का तो इसके लिये रामचन्द्र ने यथ नहीं किया । यदि बालि बधु भी था और वह भी राम के द्वारा तो भी कोई यह नहीं कह सकता कि जिस उपाय से राम ने बालि को मारा वह उचित था । राम को चाहिए था कि पहले बालि पर दोषारोपण करते, फिर उसे लल-कार कर युद्ध में भारते जैसा महावीर-चरित में भवभूति ने कराया है । उसमें राम के बालि को अपना शत्रु समझने का भी कारण दिया गया है; क्योंकि बालि ने पहले ही राम के विरुद्ध रावण से मित्रता कर ली थी । दूसरे के साथ युद्ध में लगे हुए व्यक्ति को, जिसे उनकी ओर से कुछ भी सटका नहीं है, पेड़ की आड़ से छिप कर मारना राम के चरित पर एक बड़ा भारी कलक है जिस पर न तो हेतुवाद के धूने में कोई लीला-पौनी की जा सकती है और न मनुष्यता के रंग में ही । उद्देश्य चाहे कितना ही उत्तम क्यों न हो वह इनमें महित उपाय के अनौचित्य को दूर नहीं कर सकता, और न यह कलक रामचन्द्र को अवतार से मनुष्य की कोटि में उतार लाने के लिये ही आवश्यक है । विरहानुरता में बहग विलाप करते हुए तथा लटमण को पवित्र लगने पर यह कहने हुए—

‘जनार्थी जो मन बंधु-बिछोड़ । पिता-बचन मनत्यों नहि ओढ़ ॥’

उन्होंने जो हृदय की मानबोचित मधुर बमजोरी दिखाई है वही

मित्र के चेहों के रूप में राम-नरमग हमें देने हैं जो गुरु ने पहले जाग-
कर उनकी सेवा-सुभूषा में संजग्न दिखाई देने हैं । भगवद्भिरयक रति की
सबसे गहरी अनुमति उनकी विनयपत्रिका में होती है, यद्यपि उनके अन्य
पदों में भी इसकी कमी नहीं है । शृंगार रग के प्रसाह में गाइकों को
आपन्न करने में गोमाईजी ने कोई बगर नहीं रगी है, परन्तु उनका
शृंगार रस रीति-बाल के शृंगारी कवियों के शृंगार की भांति कामुकता
का नग्न नृत्य न होकर सर्वथा मर्यादित है । शृंगार रग यदि अरजिलता से
बहुत दूर पवित्रता की उच्च भूमि में कहो उठा है तो वह गोमाईजी की कविता
में । जहाँ परम भक्त सूरदास भी अरजिलता के पक्ष में पड़ गए हैं वहाँ
गोमाईजी ने अपनी कविता में लेश-मात्र भी दुर्भावना नहीं आने दी है—

‘करत बतकही अनुज सन, मन सिय-रूप लुभान ।

मुल सरोज-मकरंद-छवि, करइ मधुप इव पान ॥

बेलन मिस भृग विहंग सख, फिरइ बहोरि बहोरि ।

निरलि निरलि रघुबीर छवि, याइइ प्रीति न धोरि ॥’

एक-दूगरे के प्रति अकुरित होते हुए इस सहज प्रेम के द्वारा किसके
हृदय में शृंगार रस की पुनोत्पत्ति व्यजना न होगी ?

फिर बिचकूट में लक्ष्मण की बनाई हुई पणंगाला में—

‘निज कर राजीव भयन, पल्लव दल रचित सपन,

प्यास परस्पर विपूर प्रेम पान की ।

सिय अंग लिखें पानु राग, सुमननि भूषन विभाग,

तिलक करनिका बहो कला-निधान की ।

भानुरी बिलास हास, गायत जस तुलसिदास,

बसति हृदय जोरी मिय परम प्रान की ।’

सचमुच सरल प्रेममय यह जोड़ी हर एक के हृदय में धर कर लेती
है । इनका पद्योगान बरती हुई गोमाईजी की वाणी ध्वन्य है, जिसने वासना-
विहीन पृष्ठ आपत्य प्रेम का यह परम पवित्र बिज लोक के समस्त रसा
है । जब कोई विदेशी बहता है कि हिन्दी के कवियों ने प्रेम की वासना

और स्त्री को पुरुष के विलास की ही सामग्री समझकर हिंसी-साहित्य को गंदगी से भर दिया है तब 'यह साँछन सर्वांग में सत्य नहीं है,' यह सिद्ध करने के लिए गोमाईजी की रचनाओं की ओर संकेत करने के अतिरिक्त हमारे पास कोई माधन नहीं रहता ।

गोमाईजी के विप्रलम्भ शृंगार की मृदुल कठोरता सीता-हरण के समय राम के बिलाप में पूर्णतया प्रत्यक्ष होती है ।

माताल्य की मनोहरता इसमें देखाए—

‘ललित सुतर्हि लालत सखु पाए
मौसल्या कल कनक अजिर महं सितावति चलन अंगुरियां लाए ॥

* * * *

बंतियां ईं ईं मनोहर मुख छवि अदन अपर चित लेंत घोराए ।
किराकि किलकि नाचत घुटकी सुनि डरपत जननि पानि छुटकाए ॥
गिरि छुटचनि टेकि उठि अनुजनि तोतरि बोलत पूष बेलाए ।
बालकलि अवलोकि मातु सब भुक्ति भगन आनंद न अमाए ॥’

जन्मभूमि के प्रेम का भी, जो स्थायित्व को पाकर आजकल कविता में रस की श्रेणी तक पहुँच गया है, एकाध छोटा गोसाईजी ने छिड़का है, जिसका उल्लेख हम पहले कर आये हैं ।

कहण रस की धारा राम के वनवासी होने पर और लक्ष्मण को शक्ति लगने पर फूट पड़ती है । राम के वनवासी होने पर तो शोक की छाया मनुष्यों ही पर नहीं, पशुओं पर भी पड़ी । जिस रस पर राम को सुमित्र कुछ दूर तक पहुँचा आया था, छोट आने पर उसमें जुने हुए घोड़ों की आकुलता देखिए—

‘देखि देखिन दिसि हय हिहिनाहीं । जनु बिनु पंख बिहंग मकुलाहि ॥

तून चरहि, न पियहि जल, मोचहि लोचन बारि ।’

जब यह दशा थी तब पुरवासियों की ओर विचेष्टकर की क्या दशा हुई होगी !

‘बिहीन मही में जानी’ कहने पर लक्ष्मण

दिगन्ता का मुर्झाने उद्भूत रम का समन्वय दिगन्तादा । शिवजी की
 दगाव के दान और माद-मोह में हाम्य रम के पुत्रों सटने हैं । स्वयं
 राम-नया के भीतर कृत्रिम रूप बना का आई हुई वास्तव में कुरंग
 मृगगा के राम के प्रति इन बार ॥ ओठ मृग ही जाने हैं—

‘मुग्ध रम पुरख म मो रम मारी । यह गयोग विधि रचा विचारी ॥

मम अनुप पुरख जग माहि । देखिउं लोखि लोक निहुं माहीं ॥

ताने अब लखि रहिउं कृपारी । मन धाना काटु सुहृदि निहारी ॥’

एकमात्र इन पर मन ही मन खूब हमे थे । इसी कारण जब राम ने
 उगे उनके पाग भेजा तो उनमें भी न रहा गया । बोले, उन्हीं के पाग जाओ ।
 वे राजा हैं, मय कुछ उन्हें सोभा दे गवता है—

‘प्रभु शमरथ कोसलपुरराजा । जो बहुत करीह उनीह सब छाजा ॥’

इनका होने पर भी, यह बड़ी नहीं मान होता कि गोसाइंजी ने
 प्रमलपूर्वक आलवन, उद्दीपन, सचारी आदि को जुटाकर रम-परिपाक
 का आयोजन किया हो । प्रवच के स्वाभाविक प्रवाह के भीतर स्वतः ही
 रम की तलैया बंध गई है जिनमें जो मर दुबकी लगा कर ही साहित्यिक
 तैराक आगे बड़ने का नाम लेता है ।

वात यह है कि वे कला को कलावाजी की श्रेणी में गिरा देना नहीं
 चाहते थे । कला (आर्ट) और कलावाजी (आर्टिफिश) में सदा से भेद

होता आया है। इसी प्रकार माली कारीगरी भी कला नहीं है। कला (आर्टिस्ट) न कारीगर (आर्टिजन) है और न कलावाज (आर्टिफिशियल) कलावाज केवल हाथ की सफाई दिखाता है और कारीगर को मरुता उसके परिश्रम में है, जबकि कलावत विवश होकर कला की सृष्टि। साधन बनता है, उसमें स्थित कला का स्फुरण होता है। कलावाज न कारीगर स्वयं अपनी सृष्टि के कर्ता है, परन्तु कलावत कला की अर्थात् व्यक्ति का एक माध्यम मात्र है। कलावाज और कारीगर में उनकी इच्छा शक्ति प्रेरणा करती है, कलावत की विनोदता उसकी विवशता में है

‘कनक कनक तें सौगुनी, भावकता अधिकार ।

यह लाए बीरात हैं, यह पाए बीरात ॥’

में कलावाजी है। इस दोहे की विनोदता उक्ति का अनुपादन है जो सी और धतूरा दोनों के लिए एक ही शब्द रख देने से आया है। केशव ने जहाँ तीन अर्थ एक-एक छंद में ठूँस कर मरे हैं वहाँ वे कारीगर वा वा करते हैं।

‘मेरी सब पुहारय थाकी ।

विपत्ति बढावन बंधु-बाहु-जिनु करौ भरोसो काकी ।

सुनु सुग्रीव सांच हूँ भी सन फेरयो बदन बिघाता ।

ऐसेउ समय समर संकट हौं तग्यौं सयन सो ग्याता ॥

गिरि कानन जहँ सायामग हौं पुनि अनुज-सपाती ।

हृदय हूँ कहा जिभीपन की मति रही सोच भरि छापी ॥’

गोमार्दजी का यह पद सुदृढ़ कला का नमूना है। इसमें न कहीं प्रयत्न दीपता है और न कहीं वाग की व्योम ही है। गीथे हृदय से निकली हुई बाने हैं, कही बनावट नहीं है। गोमार्दजी की रचना अधिभार इमो श्रेणी की है। कलावाजी तो उनमें नहीं के बराबर है। बहुत दूरने में एक उदाहरण मिला—

‘साधु धरित सुभ सरित बपायू । निरत बिसय गुनमय कम जानू ॥

जो सहि दूख पर छिड दुरास । बंधनीय जेहि जनु जनु पाया ॥’

होती है । स्वयंभूत इम व्यक्तित्व को देखिए—

‘ओ छवि-मुखा-मयोनिधि होई । परम-रूपमय बरहूप सोई ॥

मोमा रज्जु महर गूनाए । मये पानि पंखज निज भाए ॥

इहि बिधि उपजं लखि जव, गुनरता सुख मूल ।

तवहि संकोच समेन बनि, बहहि सीध सम सुख ॥

इसमे जानकीजी के मोदय की अनुभूति के गाय-भाष कितने आदर भाव का उदय मन में होता है । परन्तु इस प्रकार की कारीगरी बिनाप क्त से गोमाईजी ने राम बधा के आरम्भ होने से पहले और बधा समाप्त हो जाने के बाद की है । गोतावली और रामचरितमानस दोनों में यही बात दिखाई देती है । इन अवसरों पर गोमाईजी ने लड़े-लड़े माग रूपक बड़ी घूमवाम में बाधे हैं । मानस का रूपक प्रसिद्ध ही है । गोमाईजी की कारीगरी के उदाहरण में एक और रूपक यहां दिया जाता है—

‘मुद मंगलमय संत-समाजू । जो जग जंगम सौरधराजू ॥

राम-भगति जहं सुरसरि-धारा । सरसइ सत्य-बिचार प्रचारा ॥

शब्द-वचन ही जाना पहना है ।

बला का एक प्रयत्न दुर्दम्य जीवन की स्थापना करने हुआ उसे
सिनी उच्चतम आदर्श में दृष्टि का प्रयत्न करना है । मानाभिप्राय
में दिनी मायना होगी उननी ही हम दुर्दम्य में स्थापना भी होगी ।
बो लोग अर्थ को ब्रह्मविद्या की भूमि-भूमि में छिपा रखन ही में अपनी
स्वायत्ता समझने हैं उनकी रचनाएं गदा के लिए भविष्य की सीढ़ी
बनी रहेंगी । वह भविष्य कभी वर्तमान में परिणत न होगा । हाँ, बला
की भूमि में भी गूढ़ अभिप्रायनावादिनी का अलग ही मातृवदादी
कल्प बाध दिया जाय न। उनकी रचनाओं को गदा ही योगाग की
सम्पु समझिए, यद्यपि उम वर्तमान का जनसाधारण के वगसाग में भी

विधि-निषेध-मय कलि-मल-हरनी । करम-कया रविनंदिनी बरनी ॥
हरिहर-कया बिराजति बेनी । सुनत सकल सुव मंगल देनी ॥
बट बिस्वासु अचल निज धर्मा । तीरथराज समाज सुवर्मा ॥
सबहि सुलभ सब दिन सब देसा । सेवत सादर समन कतेसा ॥
अकय अलौकिक तीरथ-राज । देइ सद्य कल प्रगट प्रनाज ॥

सुनि समुसाहि जन मुदित मन, मज्जाहि अति अनुराग ।

सुहाहि चारि फल अछत तनु, साधु-समाज प्रयाग ॥

गीतावली के अन्त में तो गोसाईजी ने लंबे-लंबे साग रुखों के नख-शिख ही वर्णन किया है। नख-शिखकार तो नायिकाओं का नख-शिख वर्णन करते हैं, परन्तु गोसाईजी ने रामचन्द्र का नख-शिख वर्णन किया है। इसमें राम का मुख, उनकी बाहें, हाथ-पाँव सभी अंगों का आलंकारित भाषा में वर्णन है।

गोसाईजी के अलंकारों के विषय में इतना और ध्यान रखना चाहिए कि वे जहाँ परिश्रम-प्रभव भी हैं वहाँ भी अवसरानुकूल भावना के उद्गार में सहायक होते हैं और, जैसा पीछे दिखाला चुके हैं, रूपाचार का दृश्यात्मक चित्रण तो इनके अलंकारों की विशेषता है ही—

‘कंयु कंठ, भुज बिसाल, उरसि तरुन तुलसि माल,

मंजुल मुक्तावलि जुत जागानि मिय जोहें ।

जनु कालिद मंदिनिमनि इंदुनीउ मितर परसि,

घेसति तसति हम सेनि संकुल अधिकोहें ॥’

इस उप्रेक्षा में रामचन्द्रजी के शरीर की तुलना नीलम के पत्तों के, सुन्दरी-माला की यमुना में और मणियों के समान है, क्योंकि कंयु उगम है ही, मंजुल उतम है, मंदिनिमनि उगम है ही, इंदुनीउ उतम है, मितर उतम है ही, घेसति उतम है ही, तसति उतम है ही, सेनि उतम है ही, संकुल उतम है ही, अधिकोहें उतम है ही।

इसी

के मस्तक

परक

कला का एक प्रधान उद्देश्य जीवन की व्याख्या करने का है। उसे
 विभिन्न दृष्टिकोणों से देखने का प्रयत्न करना है। साक्षात्कारित
 में जीवन का स्वरूप ही है। इस उद्देश्य में समाज भी होगा।
 जो लोग अपने को समाज की भूमिका में ठहराते हैं वे अपनी
 जनजाति का समर्थन हैं। उनकी रचनाओं में समाज के लिए भविष्य की नींव
 बनी रहेंगी। वह भविष्य अभी वर्तमान में परिणत न होगा। हाँ, समाज
 की भूमि में भी कुछ अभिव्यक्तियों का अन्तर्गत ही सामाजिक-द्वारा
 मण्डल थाप दिया जाय। उनकी रचनाओं की मद्दत ही वर्तमान की
 वस्तु समझना, यद्यपि उस वर्तमान का जनजाति-धारण के वर्तमान में कोई
 सम्बन्ध न होगा। परन्तु गोमार्दजी ने गदैव जन-जाति-धारण के वर्तमान
 को दृष्टि-अर्थ में रक्त कर लिया है। उन्होंने जो कुछ कहा है सो धीरे धीरे
 में कहा है। अन्तर्गत की योजना उन्होंने अपने को केवल शब्द-गुणन
 में ठहराने के लिये नहीं बल्कि भाव की ओर भी स्पष्ट अभिव्यक्ति करने
 के लिये की है। गोमार्दजी की पक्तियों में साधारण प्रत्यक्षार्थ को छोड़
 कर गूढ़ार्थ की खोज करना कला के उपर्युक्त उद्देश्य का विरोध करना
 है, जिसने गोमार्दजी की रामचरित लिखने की अतः प्रेरणा की थी।

कला के इसी उद्देश्य ने गोमार्दजी को मस्कृत का विद्वान् होने पर
 भी उस देव-वाणी की समझ छोड़ कर जन-वाणी का आश्रय लेने के लिये
 बाध्य किया था। मस्कृत, जिसमें अब तक राम-कथा प्रसिद्ध थी, अब

विधि-निषेध-मय कलि-मल-हरनी । करम-कया रविनंदिनी बरनी ॥
 हरिहर-कया बिराजति बेनी । सुनत सकल मूढ मंगल बेनी ॥
 बट विस्थातु अचल निज धर्मा । तीरथराज समाज सुकर्मा ॥
 रायहि सुलभ सब दिन सब बेसा । सेवत सावर समन कलेसा ॥
 अफय अलौकिक तीरथ-राज । बेइ सद्य फल प्रगट प्रभाज ॥

सुनि समुगाहि जन मुदित मन, मज्जाहि अति अनुराग ।

सहहि चारि फल अछत तनु, साधु-समाज प्रयाग ॥

गीतादली के अन्त में तो गोसाईजी ने लंबे-लंबे साग रूपों में नख-शिख ही वर्णन किया है । नख-शिखकार तो मायिकाओं का नख-शिख वर्णन करते हैं, परंतु गोसाईजी ने रामचंद्र का नख-शिख वर्णन किया है । इसमें राम का मुख, उनकी बाहें, हाथ-पाव सभी अंगों का आलंकारक भाषा में वर्णन है ।

गोसाईजी के अलंकारों के विषय में इतना और ध्यान रखना चाहिए कि वे जहां परिश्रम-प्रभव भी हैं वहां भी अवसरानुकूल भावना के उत्पन्न में सहायक होते हैं और, जैसा पीछे दिखला चुके हैं, रूपाकार का यथातम्य चित्रण तो इनके अलंकारों की विशेषता है ही—

‘कंदु कंठ, भुज विताल, उरति तरुन तुलति माल,

मंजुल मुक्तावलि जूत जायाति जिय जोहं ।

जनु कालिंद नंदिनिमनि इंद्रील सितर परति ,

धैसति लसति हंस सेनि संकुल अधिकोहं ॥’

इस उत्प्रेक्षा में रामचंद्रजी के शरीर की तुलना नीलम के पहाड़ से, तुलसी-माला की यमुना से और मणियों की हत्तों से बहुत उत्तम बनी है, क्योंकि रूप-सादृश्य तो उसमें है ही, अप्रस्तुत और प्रस्तुत दोनों एक समान ही हमारी मूढ़ल भावनाओं के आकर्षक भी हैं—

इसी प्रकार, रामचंद्रजी के मस्तक पर—

‘चाह चंदन मनहुं मरकत सितर लसत निहाव ।’

जन-भाषाएँ की शोष-मान की भाषा न रह कर पंडितों के ही मडल तक बंधी रह गई थी। इसमें रामचरितमानस का आनन्दपूर्ण लान सर्व-भाषाएँ न उठा सकते थे। इसी में गोस्वामीजी की भाषा में रामचरित-निगमने की प्रेरणा हुई, पर पंडित लोगों में उस समय भाषा का आदर न था। भाषा कविता की वे नहीं उद्धानें थे।

‘भाषा भविनि मोरि मति भोरी। हृत्तिव जोग हंस नहि छोरी।’ परंतु गोसाईंजी ने उनकी हंसी की कोई परवाह नहीं की, क्योंकि वे जानते थे कि यही वस्तु मानागद हैं जो उपयोगी भी हैं। जो किसी के काम न आवे उगता मृग ही क्या ?

✓ ‘का भाषा का संस्कारित प्रेम चाहियतु साव।
काम जो आवइ कामरी का लं करे कमाव ॥’

अतएव उन्होंने भाषा ही में कविता की ओर रामचरित को देस-भर में घर-घर पहुँचाने का उपक्रम किया।

उस समय काव्य की प्रचलित भाषा ब्रज भाषा थी। वैष्णवों ने इसी को अपनाया था। मूरदांजी ने मूर सागर के ^{मूर सागर} पद इसी भाषा में रचे थे। गोस्वामीजी ने पहले इसी में फुटकर रचना करना आरम्भ किया। उन्होंने गीतावली, विनयपत्रिका और कवितावली का अधिक अंश ब्रज-भाषा में ही लिखा है, परंतु ब्रज भाषा फुटकर छंदों के ही लिये उपयुक्त थी, उसमें अभी तक कोई प्रबन्ध-काव्य नहीं लिखे गए थे। अतएव जब वे रामचरित को प्रबन्ध रूप में लिखने बैठे तब उन्हें दूसरी भाषा ढूँढ़ने की आवश्यकता हुई। जब हम देखते हैं कि आगे चल कर जिन-जिन लोगों ने ब्रज भाषा में प्रबन्ध-काव्य लिखने का प्रयत्न किया वे सब असफल रहे तब हमें गोसाईंजी के ब्रज भाषा में प्रबन्ध-काव्य न लिखने के निर्णय का औचित्य जान पड़ता है। ब्रज विलास आदि प्रबन्ध-काव्य कभी जनता में सर्वप्रिय न हुए। अतएव अपने प्रबन्ध-काव्य के लिये गोसाईंजी ने अवधी को ग्रहण किया जिसे प्रेम-मार्गी कहानी-लेखक सूफी कवि कहानियों के लिये भली-भाँति माज चुके थे। अवधि की ओर गोसाईंजी की रुचि के

और भी वाग्म्य थे। यह स्पष्ट उनकी जी-री थी और उन प्रात की भी जी-री थी। उनसे हमें का जन्म हुआ था। गोमाईजी के पहले बार-बार काव्य-आवृत्ति में गिने जा चुके थे। कोई तीस वर्ष पहले जायसी ने पदावन की कहानी लिखकर अपनी प्रेम-गुप्त वागी का समन्वय लिखा था। गोमाईजी ने उनकी का अनुसरण किया। जानकी-भगवत, पार्वती-भगवत, दशवै गोमायिका आदि ग्रंथों की रचना भी उन्होंने अवधी में की।

इन प्रकार गोमाईजी ने दो भाषाओं में कविता की। इन दोनों भाषाओं की मस्तुत की परिपक्व चागनी की पाग देकर उन्होंने उन्हें बहुमूल्य मिठाई प्रदान की है। इन दोनों भाषाओं पर उनकी रचनाओं में इतना अधिकार दिखाई देता है कि जितना स्वयं गुरुदासजी का वज्र भाषा पर और जायसी का अवधी पर न था। इन दोनों लब्ध-प्रतिष्ठ कवियों ने व्याकरण का बला दबा कर शब्दों के ऊपर खूब अत्याचार किया है। परन्तु गोमाईजी ने वज्र भाषा और अवधी दोनों के व्याकरण के नियमों का पूर्ण रूप से निर्वाह किया है। भाषा-वैविध्य तो उनकी रचनाओं में बड़ी मिलता ही नहीं है। एक ही शब्द उनमें ऐसा नहीं मिलता जो भरती का हो। प्रत्येक शब्द पूर्ण भाव-व्यञ्जक होकर अपने अस्तित्व की मप्रयोजनता को प्रकट करता है।

अपने समय की प्रचलित काव्य-आवाओं ही पर नहीं उस समय तक प्रचलित काव्य-शैलियों पर भी उनका प्रभुत्व स्तित होता है। विषय के अनुकूल उनकी शैली भी बदलती जाती है। गीताबली और विनयपत्रिका में गुरुदास की गीत-मञ्जरी का अनुसरण किया गया है। उनमें भारतीय संगीत की भिन्न-भिन्न राग-रागिनियां गृहीत की गई हैं। कवितावली में भाटो की परंपरा के अनुसार छंदों में सबै और कविता बने गए हैं। जब उनके समय के कवियों की साधारण रचनाओं के भाट बने में लज्जा न आई तब वे अपने सर्वोच्च जगदाधिर श्री राम की उमरदराजी कहने में क्यों लज्जते? विरदाबली और बीरोत्तमाहवपिनी दोनों प्रणालियों

को, जिन के जिसे मर्त्य, मनासही, और छाया मित्राकर उभरता ठहरने हैं, वरिष्ठान्ती में प्रथम विद्या है। रामचरितमानस में जादगी के अनु-
 मन्त्र पर प्रथम-नाम के अनुकूल दोहे शोभादयों का अनुक्रम रखा गया
 है। शोभाई और वरुण अरुणी के नाम अपने छंद हैं। वरुण में भी गोसाईं-
 जी ने रामचरित का संग्रह किया है, परन्तु मूल स्वान्तर छन्द में, राम-
 चरित मानस के अनुरूप नहीं। रामचरितमानस में बीच-बीच में विमंगी,
 हस्तिगीतिता, गीतक, गायत्रा आदि सब छोटे छंद रखे गए हैं। परन्तु यह
 यही पर दिया गया है जहाँ पर कथा-प्रबन्ध के प्रवाह में कुछ समाप्त
 आवश्यक था; जैसे किमी देवता की प्रार्थना में अथवा इसी प्रकार के किसी
 अन्य अवसर पर, बिन्नु और जगह नहीं। अब रह जाती है नीति-काव्य
 के रचयिताओं की विदग्ध-वचनायली-गिद्ध प्रणाली जिसके साथ दोहों
 का कुछ अद्भुत सम्बन्ध-गा हो गया है। उग पर गोसाईंजी ने स्वतंत्र रचना
 भी की है और उसके लिये मंत्र-मंत्र प्रबन्ध के बीच में भी जगह निकाल
 ली है। दोहायली और सतसई ऐसे ही पद्यों के संग्रह हैं, जो कुछ तो मानस
 आदि ग्रंथों से संग्रहीत हैं और शाय स्वतंत्र रचनाएँ हैं। विलष्ट-कल्पना-
 जन्य कूट-कविता-शैली को तो हम भूल ही गए थे। परन्तु गोसाईंजी उन्हे
 भी न भूले। सतसई में उन्होंने ऐसी जटिल रचनाएँ की हैं जिनका अर्थ
 करने के लिये बड़ी सीधातानी करनी पड़ती है और सब भी अनिश्चय
 बना ही रहता है। ऐसी रचनाएँ प्रशस्नीय नहीं कही जा सकती, चाहे वे
 गोसाईंजी की ही रची क्यों न हों। हा, गोसाईंजी की बुद्धिमत्ता की प्रशंसा
 करनी चाहिए कि उन्होंने इस प्रकार की रचनाओं के लिये ऐसे विषय
 को चुना और इस प्रकार से इस प्रणाली का उपयोग किया कि अर्थ के
 अनिश्चय में भी अनर्थ की संभावना नहीं रहती। प्रत्येक दोहे में स्पष्ट ही
किसी की वंदना की गई है। यह भी पाठक जानता है कि राम अथवा
 राम से सम्बन्ध रखने वाले किसी व्यक्ति की वंदना होगी। कूट से, वही
 नाम निकालने के लिये पाठक को अपना मस्तिष्क लगाना होता है। अब
 गोसाईंजी का अभिप्राय राम की वंदना से था और पाठक ने भरत

अवधार. धर्म

गोसाईजी काय मस्वर्ग के परम भवत थे । उमकी रसा उनके जेविन वा मवोज्व धर्म वा । रामचरित के द्वारा उन्होंने उतका आदर्श स्वरूप रसा कर दिया हे दिगके महारे हिंदू आज भी बाय बना हुआ हे । मनुष्य-मनुष्य का ऐसा कोई मवध नही जिसका हमारे लिये गोसाईजी ने आदर्श न स्थापित कर दिया हो । व्यक्ति, परिवार, समाज, राज्य—गोसाईजी की देखनी ने सबका सामग्र्य-विधान हिंदू मस्वर्ग

के अनुरूप ही किया है । पाश्चात्य सभ्यता में व्यक्ति का परिवार से, परिवार का समाज से और समाज का राज्य से सघर्ष दृष्टिगोचर होता है । परन्तु हमारी सस्कृति के अनुसार इन मित्र-मित्र मडलों का घेरा यह नहीं है । इसके विपरीत हमारे यहां प्रत्येक बड़ा मण्डल अपने में छोटे मण्डल का क्रमशः विकसित रूप है । व्यक्ति परिवार में, परिवार समाज में और समाज राज्य में विकसित हुआ है । हमारी सभ्यता की

में समाज और राज्य की स्थापना नहीं हुई । रामचरितमानस में इस उत्सर्ग से उत्कर्ष-प्राप्त सस्कृति का सौन्दर्य खूब प्रस्फुटित हुआ है । दशरथ के परिवार का प्रत्येक व्यक्ति सारे परिवार की सुख-शांति के निम्न अपने-अपने सुखों का त्याग करने के लिये प्रस्तुत है और इस सारे परिवार का त्याग मिल कर समाज और राज्य का कल्याण करता है । कैंकेयी की दुर्मति इसी त्याग के सौन्दर्य को दिखलाने का कारण होकर स्वयं भी धन्य हो गई है । इस परिवार का प्रत्येक व्यक्ति समाज के सामने कोई न कोई आदर्श उपस्थित करता है । दशरथ राज्य-प्रतिष्ठाता और पुत्र-प्रेम के, राम पित्र-भक्ति के, भरत भ्रातृ-भक्ति के, लक्ष्मण अपूर्व सहन-शक्ति के, कौशल्या प्रेममयी माता का और सीता पति-वराण पत्नी का आदर्श है । कैंकेयी भी जगत् के सामने एक आदर्श रगती है, वह है परचात्ताप का आदर्श । यदि किसी व्यक्ति से अपराध हो जाय तो वह भी कैंकेयी के ऐसा परचात्ताप करके अपने को पावन कर मरना है । पिता-पुत्र का, भाई-भाई का, पति-पत्नी का जो मधुर और आदर्श सम्बन्ध इस परिवार में देखने को मिलता है, उगम उत्तम का—राज्य का—सौन्दर्य मिल उठ है ।

☐ यह उत्तम भारतीय सस्कृति की आध्यात्मिकता का चोकर है । व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को परिवार में समाज और समाज में राज्य में

उनकी आपत्तिमयता का भूत हो ही क्या सकता है ? मरुतने बाग्य
 में दहम देम में था ही नहीं । यदि मरु बाग्य होनी तो रोम के धीविमन
 विद्रोह की भाति हमारे मात भी मृद-विद्रोह होने । आज-कल मृदों का
 समाज में जो स्थान है उसमें मृद-विद्रोह प्रचंड रूप धारण किए हुए है ।
 उनकी प्रचटना मरुतनी हमलिये मरी रि उनमें रूप ही दूसरा पण्डा
 है । वह है धर्म-परिवर्तन, जो विद्रोह में भी भयंकर है । विद्रोह एक
 धर्म की रक्षा का प्रयत्न करना है, परिवर्तन अग-विच्छेद की ओर मुक्तता
 है । गोगार्दजी में जिम समाज की मृष्टि की है उनके आदर्श पर चलने
 में हम स्थिति का परिहार हो सकता है, क्योंकि उसमें मृदों के ऊपर आज-
 कल की भाति अन्याय नहीं होता था । गोगार्दजी ने मृदों को मदिर-
 प्रवेग का अधिकार दिया है । 'जन-मत अर्थात् मृद तनु पाई', इस प्रकार
 अपने मृद-जगम की बधा बहने हुए बाक भूमिदि मरुड से कहते हैं—'एक
 बार हर-भदिर जपत रहेउ सिवनाम' ।

उस समाज में मृद ब्राह्मणों से मंत्र-दीक्षा भी पा सकते थे । काक
 भूमिदि बहने हैं—

'जिप्र एक चंदिक सिव पूजा । करे सदा तेहि काज न दूजा ॥
 संभू भंत्र मोहि द्विज बर बीन्हा । सुभ उपदेश बिबिध विधि कीन्हा ॥'

है, परन्तु वे नियम के विरोध में खड़े नहीं हो सकते ।

चारों वर्णों में जिस क्रम से भौतिकता का अंश कम और आध्यात्मिकता का अधिक है उसी क्रम से उनकी महत्त्व भी अधिक दिया गया है । इसी क्रम से निम्न स्थान वाले का अपने से ऊपर वाले वर्णों के प्रति आदर प्रदर्शन करना कर्तव्य है । ब्राह्मणों को भौतिक सुख का त्याग कर ज्ञान और विद्या की रक्षा तथा वृद्धि करनी पड़ती है । इसीलिये वर्ण-विभाग में उनका सर्वोच्च स्थान है । गोसाईजी ने जटायु से राम के द्वारा इस संवध में जो यह उपदेश दिलाया है—

‘मन क्रम ध्वन कपट तजि जो कर भूसुर-सेव ।

मोहि समेत बिरंचि सिख बस साके सब देव ॥’

वह इसीलिये है ।

ज्ञान धर्म यद्यपि स्थूल बाहु-बल पर अवलंबित है, परन्तु इस स्थूल बल का प्रदर्शन बिना आत्म-बल के नहीं हो सकता, क्योंकि उस के साथ-साथ प्राण-हानि की आशंका बनी रहती है, बल्कि न्याय-पूर्वक रणभूमि में प्राणोत्सर्ग करना ही क्षत्रिय अपना धर्म समझता है । इसलिये ब्राह्मणों के अनंतर क्षत्रियों का पद आता है । वाणिज्य और सेवा-धर्म में उतने त्याग की आवश्यकता नहीं पड़ती । कम आध्यात्मिकता वाले वर्णों को अधिक आध्यात्मिकता वाले वर्णों के प्रति आदर-वृद्धि रखने का नियम निरर्थक सामाजिक नियम नहीं है । हमारी जातिगत आध्यात्मिकता की रक्षा के लिये यह सर्वथा आवश्यक था । बिना उसके कम आध्यात्मिकता वाले वर्णों के लिये आधम-धर्म बेकार हो जाता, वान-प्रस्थ और सन्यासाश्रम में वे कोई स्थान न उठा सकते । आध्यात्मिकता के लिये इसी आदर-वृद्धि का प्रगट है कि अधिराधिर भोक्तिनामक जीवन बिताने हुए भी वे सर्वथा भोक्तिनाम में फग नहीं जाने और अंत में वानप्रस्थ के द्वारा सन्यासाश्रम में वे ब्राह्मणों के साथ गमाना प्रगट कर सकते हैं । इस दृष्टि में गोसाईजी का यह मत—

‘सायत ताकत पदव रहैता । विप्र पूज्य अत नासहि संता ॥’

यहाँ पर एक और जटिल समस्या पर विचार कर लेना आवश्यक है। गोमाईजी पर पुरूषों के साथ-साथ स्त्रियों पर अन्याय करने का अपराध ठापा जाना है। परन्तु जिस व्यक्ति को स्त्री के ही मुख से भगवत्प्रेम की दाँया मिली हो वह मन्त्रा कैसे स्त्री-वर्ग के ऊपर अन्याय कर सकता था! 'हम तो चाचा प्रेमरस, पतिनी के उपदेस', यह गोमाईजी ने स्वयं कहा है। गोमाईजी ने उन पर अन्याय किया भी नहीं है। 'जिमि स्वतन्त्र होइ शिगरहि नारी' कहने समय उनका अभिप्राय यह नहीं था कि उन्हें बिधुद बाप ही दिया जाय, प्रत्युत समाज-शास्त्र की दृष्टि से यह कहकर उन्होंने स्त्रियों के महत्त्व को स्वीकार किया है। एक ही स्त्री माता, पत्नी, बहू आदि कई रूपों में, कई प्रेम-भूतों में परिवार को एक में बाध रखती है। अनर्गल उमका पारिवारिक विचारों को छोड़कर इधर-उधर की बातों में बहक जाना समाज के बंधनों को ढीला करना है। स्वच्छन्दता केवल स्त्रियों के ही लिये बुरी नहीं है, पुरुषों के लिये भी बुरी है। यदि प्रत्येक व्यक्ति स्वच्छन्द हो जाय तो स्वतन्त्रता बड़ी नाम को भी न मिले। विशेष अवस्थामों में जब कि गुड़ भाव में आंतरिक प्रेरणा हो रही हो तब सब बाधक बंधनों को मोड़ डालने का अधिकार के स्त्रियों का भी मानने है। जी 'राम बैदेही' के विमुख ही उन्हें 'त्यागिय कोटि बैरी ममायछपि परम मनेही' यह उपदेश उन्होंने भीगवाई को दिया था। इस प्रकार उन्होंने स्त्री को पुरुष में किसी भी दशा में नीचा स्थान नहीं दिया है। उनकी राक्षसिया भी धर्म-परायणा, नीति-निपुणा और भक्त है। मदीदरी नीति-निपुणा बिदुयी, पित्रदा भक्ति-परायणा और गुलोचना धर्मप्राणा पतिव्रता के उत्कृष्ट उदाहरण है। उनके सब में आदर्श पुरुष पात्र नाम में आति की, जिसे उनकी और में गुण की भरवा नहीं था, तबकर मारा और एक घट्ट कभी बदवाताय का भी उनसे मुह में नहीं निकलता। बिन्तु बंधी राम की कनकास दिलाने के कारण जम-मर अनुगत में चुम्बो गयी, यद्यपि उनके पास अपने काम को करने टटलने का कारण था। अजिब के लिये वह समय कृता गया था वह करण राज्याही में नहीं थी। सात दिन तक अजिब की मँदिरा हो रही थी।

काक मुग्गुडि के साथ एक, और दूसरे विद्यार्थियों के साथ दूसरा व्यवहार न होता था, क्योंकि मुग्गुडि को—

‘विप्र पड़ाव पुत्र की नाई,

शूत के साथ का उस समाज में सर्वथा अभाव है। गृह जब राम के जाने का समाचार पाकर उनके दर्शनार्थ आता है तो राम उसे नीच जाति का समझ कर ही से नहीं मिलते हैं, पास बिछला कर उससे कुशल प्रश्न करते हैं—

‘पूछी कुशल निकट बैठाई ।’

गृह का आतिथ्य राम ने इसलिये नहीं अस्वीकार किया कि वह नीच जाति का था परंतु इसलिये कि ऐसा करने से पिता की वनवास की आज्ञा का भंग होता। ऊँच और नीच के बीच का सबसे मुदुल उदाहरण चित्रकूट में वसिष्ठ-निपाद-मिलन है—

‘प्रेम पुलकि केवट कहि मामू । कीन्ह दूरि तैं बंड प्रनामू ।

राम-सखा ऋषि बरबस भेटा । अनु महि लुटत सनेह समेटा ॥

यदि केवट विनय का अवतार है तो वसिष्ठ स्नेह के। स्वयं गोसाईजी ने अयोध्या के एक चुहड़े (मेहतर) को प्रेम-विवश होकर आलिंगन किया था।

हाँ, गोसाईजी को अवश्य ही वर्ण-व्यवस्था का अतिक्रमण असह्य था। वे यह नहीं देख सकते थे कि शूद्र (‘बैठि बरासन कहहि पुराना’) व्यास गद्दी पर बैठ कर क्या बाँचा करें या जनेऊ देते फिरें। हाँ, उनके क्रम-विभाग के बाहर की बातें हैं। तुलसीदासजी का आदर्श समाज वह है जिसमें लोग प्रेम-बंधन में बंध कर वर्णाश्रम-धर्म का पालन करते हुए अपने-अपने कर्तव्य पर दृढ़ रहें। गोसाईजी का विश्वास है कि ऐसे समाज में अवश्य सुख-शांति का साम्राज्य होगा। उसमें कभी रोग, शोक और भय नहीं व्याप सकेंगे, क्योंकि ये मानसिक अवस्थाएँ मात्र हैं जो केवल उलटी जीवन-मूर्ति के फल हैं—

‘वर्णाश्रम निज निज धरम, निरत बंद पय लोग ।

चलहि सदा पावहि सुखहि, नाहि भय शोक न रोग ॥’

[illegible]

परन्तु गौरी के बानों का गहरा न गर्द । गोगाईजी पर स्त्रियों पर अन्याय करने का शोकारोपण करना स्वयं गोगाईजी के माथे अन्याय करना है । पारंगत में स्त्री के ऊपर ऐसा अन्याय जो अप्रतिपाद्य हो उनमें देखने का योग्य था । राम के द्वारा गीता का आचरण त्याग उन्हें नहीं रुवा । पर उन्होंने उगते गरिहात का प्रयत्न किया । अष्टात्मरामायण के अनुसार पर गीतायली में उन्होंने राम ने अपने पिता की आयु भोगवाई जिन्हीं गीता के त्याग के लिये सील का अनुरोध भी एक कारण हुआ । अपने पिता की आयु भोगने हुए भी गीता का महवाग राम के लिये अनुमति होता । परन्तु हमने भी गोगाईजी को दाति न मिली । जाने रामचरितमानस में जगमें उन्होंने लोक-धर्म का विप्र तांछा है, राम को सीता पर यह अन्याय करने में बचाने के लिये लज्जा-विषय के अनन्तर अपोष्या में राम के अभियोग पर ही उन्होंने रामायण की कथा समाप्त कर डाली है ।

स्त्री की जो कही-कहीं उन्होंने निन्दा की है, वह वास्तव में स्त्री । न होकर स्त्री-पुरुष के कामुक सबध की है । दोनों वर्गों के परस्पर सपके में यह एक ऐसी निरञ्जिता का स्थल है, जिसके सबध में शतक रहने का उपदेश देना गोगाईजी अपना कर्तव्य समझते थे । तुलसीदासजी जिस वेद-विहित व्यापक धर्म के प्रतिपादक हैं उनमें पत्नी का महत्त्व पति से कम नहीं है । पति यदि स्वामी है तो पत्नी भी स्वामिनी है । स्वामी और दासी में सेव्य-सेविका का सबध भले ही हो जाय किन्तु वे परस्पर प्रेमी नहीं हो सकते । प्रेम उस चंचल भाव का भी नाम नहीं है जो मुह से—

‘अधर्माभिभवात् कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।’

कहने वाले अर्जुन को जहाँ कही पहुँचे वही जैसे बन पड़े ब्याह पर ब्याह करने को बाध्य करता था । बहुविवाह से समाज को जो हानि हो सकती है वह कैंकरी के माथे दशरथ की परवशता तथा उस अन्याय में प्रकट है जो दशरथ को राम पर करना पड़ा । जैसे पत्नी के लिये पतिव्रता होना धर्म है वैसे ही पति के लिये भी एक-मल्ली-व्रत रहना परम धर्म है । कुल स्त्रियों का प्रदूषित होना पुरुषों के प्रदूषित होने न होने पर निर्भर है । स्त्रिय

'प्रवर्त्तायाम् गतानिर्वृतं सदा न ममती भगवत्सकुलतः ॥'
 दोनों ही महापरायणी गङ्गा का दमन करने हुए देखने हैं। वासन-
 शायी में जहाँ प्रजा की मृत्यु-आनि का ध्यान रखा जाता है, वहाँ इस
 दिव्य-राज्य के लिये राजा के पाग संव्य-आविन के साथ-साथ अर्ध-आविन
 भी चाहिए। यह अर्ध-आविन कर के ही द्वारा आ सक्ती है। परन्तु इस
 क्षण का ध्यान रहना चाहिए कि कर देना प्रजा को खटक नही। इस
 दिव्य में सूर्य का उदाहरण मोक्षायामीजी राजाओं के समुख रखने हैं। सूर्य
 दिन समय और बंसे पानी को पृथ्वी में खोव लेता है, यह कोई नही देख
 पाता, किन्तु उसका वर्षा ऋतु में बरखबर सृष्टि के लाभ के लिये बरसना
 सब देखने हैं।

'वरपत्र हरपत जोग सध, करतत लपन न कोइ ।

ब्रह्मी भक्ति भल सम, प्रजा-भाग-वस होइ ॥'

गोसाईजी भी इस बात को जानते थे कि राजा में तितिक्षा और दार्शनिक मनोवृत्ति आवश्यक गुण हैं। जो इन गुणों से विहीन होते हैं वे राजसक्ति का दुर्लभयोग करने लगते हैं—

‘सहस्रबाहु सुरनाथ त्रिसंकू। केहि न राजमद दीन्ह कलंक ॥’

कुछ तो हमारे यहाँ ब्रह्मचर्याश्रम के नियम ही ऐसे हैं कि उनके अनुसार शिक्षा-शिक्षा से राजकुमारों की मनोवृत्ति कुछ दार्शनिक और उन्मत्तगम्य हो जाती है। उसके अनन्तर भी राजाओं को विरक्त अपि-मुनियों की अनुमति के अनुसार कार्य करना पड़ता था। डाक्टर मगवानदास अपनी स्वराज्य-प्रोजेक्टा में व्यवस्थापकों में विरक्त सन्यासियों को रखकर प्रशासतात्मक प्रणाली में इसी दार्शनिक तथा उत्सर्ग-मूलक तत्व को ले आने का प्रयत्न कर रहे हैं। रामचरितमानस में अयोध्या में हम गुद बलिष्ठ की अनुमति के अनुकूल राज्य-शासन का गचालन देखते हैं। साय-साय अमात्य और मन्त्रियों की सभना की तो सहायता लेनी ही पड़ती है। ये मन्त्रिगण भी निबडक बोलनेवाले होने चाहिए, क्योंकि—

‘सचिब चैंद नुह तीन जो, प्रिय बोलहि भय भास।

राज घरम तनु तीन बार, होहि बेग ही नास ॥’

राम में हमें ठीक एक दार्शनिक तितिक्षा राजा के दर्शन होते हैं जिसकी तितिक्षा कलंक की विरोधिनी नहीं है। इसीलिए उनके राज्य में राजनीति की परमावधि देखने को मिलती है—

‘राम-राज सुनियत राजनीति को अप्रिय

मान राम। रावरेतो चाग की चलाइही।’

इसीलिए—

‘देहि देविक भौतिक तापा। राम-राज नहि काहुहि व्यापा ॥

सब तर करहि परस्पर प्रीती। चलहि स्वयं निरत सृनि नीती ॥

चारिउ घरन धन जग माहीं। पूरि रहा सपनेहु अध नाहीं ॥

नहि हरिइ कोउ दुखो न दीना। * हि केउ अय्य मलछन-हीना ॥’

आजकल की ————— में व्यक्तिगत जीवन और सार्व-

भारतों आलोचना

और इस रीति से कर उगाहना चाहिए कि प्रजा को उ

न पड़े—यह आज्ञात्मक का 'इन्डाइरेक्ट टैक्समेन' है—

१. रूप में आए हुए इस धन को राजा अपने बिलाम में नहीं।
प्रजा की ही गलतियों के लिये प्रत्येक रूप में कर्य करे। जिससे
साधन-प्रजा की भी प्रजा निर्माण संभूत रहेगी, जैसा कि हम राम-
में देखते हैं। बरोकि—

‘तुम्हें प्रजाहित लेहि सामाजिक कर अनुमान।’

भोज्य पदार्थों का ग्रहण तो मुग करता है, किन्तु पुष्ट होने
शरीर के लिये अन्न। राज्य-रूप शरीर का मुख रंग है। उसे भी प्रजा
विभिन्न जंगों के पोषण के लिये ही कर-भण भोजन लेना चाहिए—

‘मृत्तिका मूल सौं चाहिए तान-पान सौं एर।

पालक पोषक सकल अंग तुलसी सहित विवेक॥’

इन सब बातों का जहा धारण हो वह राम-राज्य है, जि
गोसाईजी ने एकत्र के साथ प्रजातन्त्र का समन्वय बिधा है और सु
के साथ स्वराज्य का। इसी से वह हिन्दू-जाति के स्मृतिपटल पर अ
रूप से अंकित हो गया है।

1
 1
 केदाव के समय तक सस्कृत में साहित्य-शास्त्र का पूर्ण विकास हो
 चुका था। विद्वानों के अनेक सम्प्रदाय उठ खड़े हुए थे अलंकार-सम्प्रदाय,
 वक्त्रोक्ति-सम्प्रदाय, ध्वनि-सम्प्रदाय, रस-सम्प्रदाय, इत्यादि सभी ने अनेक
 तर्कों के उपरान्त यह निश्चय कर लिया था कि काव्य में सारभूत अन्तरण
 वस्तु रस है और अलंकार, रीति और ध्वनि अपनी शक्ति के अनुसार उसके
 महायक हैं, विरोधी नहीं; तथा इन सभी वस्तुओं की काव्य में आवश्यकता
 होती है। पीछे के लोग कवि-शिक्षा के ऊपर भी लिखने लगे। केदाव ने
 अपनी विशेष परिस्थिति के कारण अलंकार सम्प्रदाय को महत्व दिया है
 किन्तु उन्होंने रस-सम्प्रदाय की भी उपेक्षा नहीं की। उन्होंने अपनी रसिक-
 प्रेमा में रसों का स्वरूपानुरूप वर्णन किया है और सब रसों को गूणार के
 अन्तर्गत रखने का प्रयत्न किया है यद्यपि उसमें उन्हें विशेष सफलता नहीं

(यद्यपि धीरसिंहजी का चरित प्रशंसनीय भी था) केशव ने अपनी स्वामित्व के गौरव के विरुद्ध कार्य किया ।

केशव के ग्रन्थः—(१) रसिक-प्रिया (संवत् १६४२) इसमें रस-निरूपण विशेषकर भृंगार रस और नायिका भेद है । (२) रामचन्द्रिका (कार्तिक-सुदी १६५२) । (३) कवि-प्रिया (फागुन सुदी पचमी संवत् १६५२) इसमें कवि के वष्य विषयों तथा अलंकारों का वर्णन है । यह एक प्रकार से कवि-शिक्षा का ग्रन्थ है । (४) विज्ञान-गीता (यह ग्रन्थ प्रबोधचन्द्रोदय नाटक की रीति पर लिखा गया है) इनके दो ग्रन्थ और हैं—जहाँगीर-जश-चन्द्रिका और धीरसिंहदेव-चरित ।

केशव का दृष्टिकोण—हिन्दी साहित्य में जिन कवियों के ऊपर आलोचकों के अंकुश का नियत प्रहार होता रहता है उनमें से केशव भी एक प्रसिद्ध व्यक्ति है । इसमें सन्देह नहीं कि अनेक आलोचकों ने आपके नाना छन्द-विधान, सफल-संवाद, अपूर्व अलंकारिक चमत्कार तथा ओज गुण आदि की प्रशंसा की है किन्तु अधिकतर लोग इनके कविता को सुपाष्य नहीं समझते रहे हैं । किसी ने इनको 'कठिन काव्य का प्रेत' कहा है तो किसी ने 'हृदय हीन', किसी ने इनके काव्य को 'छन्दों का अजायबघर' कहा है तो किसी ने 'कवि को दैन न चाहें विदाई, पूछे केशव की कविताई' कहकर अपनी सम्मति प्रकट की है । इस सम्बन्ध में यह समझ लेना आवश्यक है कि ये सभी आलोचनाएँ कवि के दृष्टिकोण को न गमना करने के कारण हुई हैं, अस्तु सर्वप्रथम हम इसी पर विचार करते हैं ।

यह हमारा सौभाग्य ही है कि केशव ने स्वयं अपने और अपनी कविता के विषय में अपने ग्रन्थों के आरम्भ में थोड़ा-बहुत कह-मुन दिया है । केशव के जीवन-वृत्त से प्रकट होता है कि वे एक परम सत्कृत कुटुम्ब की सन्तान थे और उनको अपनी कुलीनता पर बड़ा अभिमान था । वे भाषा में कविता करने को अपनी हीनता समझते थे; फलस्वरूप उन्होंने स्वयं भी इस बात का प्रयत्न किया है कि उनकी कविता में उनका मरुत का शान छिपा न रहे और वे अपनी कुल की प्रतिष्ठा को यथापूर्व बनाये रखें । मरुत का एक

नमिली है।

• केशव ने 'अलंकार' शब्द का प्रयोग एक विलक्षण और विस्तृत अर्थ में किया है। ये 'अलंकार' के तीन भेद करते हैं—वर्णालंकार, वर्णालंकार तथा विशेषालंकार। वर्णन के सम्पूर्ण विषयों को दो भागों में बाटा गया है। एक तो काव्य के भिन्न-भिन्न रंग और दूसरे शेष वर्णनीय विषय, प्रथम को वर्णालंकार तथा दूसरे को वर्णालंकार कहा गया है। शास्त्रीय शब्द अलंकार के लिए उन्होंने 'विशेषालंकार' शब्द का प्रयोग किया है।

विशेषालंकारों का काव्यालंकारों के विषय में केशव दही और रसिक मा अनुकरण करते हैं। रस को अलंकारों की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी, यह स्वयं 'रसवत्' अलंकार बन गया। केशव ने उपमा के २२ भेद दिये हैं और श्लेष के १३। कई अलंकार—जैसे प्रेमालंकार तथा ऊर्जालंकार तो केवल सस्या बढ़ाने वाले ही हैं।

• जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं 'रसिक-प्रिया' में भी सूक्ष्मभेद-विधान की प्रवृत्ति है। रस, नायिकाभेद, वृत्ति आदि का परम्परायुक्त वर्णन है। भविष्यो, चित्रिणी आदि स्त्रियों के अनावश्यक भेद किये गये हैं।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि केशव के ग्रन्थों में अलंकारों का बहुत शक्तिमान प्रयत्न निहित है। कुछ विद्वानों ने केशव को रीतिकाल का प्रवर्तक न मान कर भक्ति-काल के पड़कर कविता में स्थान दिया है किन्तु हम उनके सहमत नहीं। यद्यपि यह सत्य है कि रीति-काल की सम्बद्ध धारा केशव से कुछ वर्ष उपरान्त एक भिन्न आदर्श को लेकर चली और यह भी सत्य है कि केशव से पहले भी साहित्य-शास्त्र के ऊपर ऐतानो उठाने वाले कई बहिर्वासी जाते हैं, फिर भी जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं, अन्य पूर्ववर्ती हिन्दी आचार्यों की अपेक्षा केशव का प्रयत्न गम्भीर तथा विस्तृत है। जहाँ तक आदर्शों का सम्बन्ध है केशव अनेक बहियों से भिन्न अवश्य है। यह साम्प्रदायिक भेदमात्र है; हमने उनके स्थान पर कोई आँच नहीं आती। आपात के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह रस-सम्प्रदाय को ही माने। केशव की रसिक-प्रिया को देता हूँ कोई यह भी नहीं कह सकता कि वे रस-सम्प्रदाय के विरोधी हैं।

यह पवित्र के चरणों में लीज या चला सुन्दर तथा मकर
 मण्डप दिया है किन्तु बली-जली यह प्रकृति के लिये जाने लगी शब्द-गाम्य
 का कारण लेकर जगत्-जो पर टिनी रहती है कि मात्र को निर्जीव कर देती
 है। 'घान' दुष्ट का भी नाम है और जगत्-जो भी बहते हैं, केवल ने
 प्रसन्न-गिरि का यज्ञ करत हुए इन पदों का प्रयोग इन प्रकार किया है—

‘मिथु तो रत्न संग पाय’

पहाड़ को सोमा उगती मरता में है, मिथुना में नहीं। इसी प्रकार ‘सिखा’
 के दो अर्थ हैं—पावनी और गोदरी, इन दोनों का एक साथ ध्यान में आना
 सिखा हास्यार्थ हो जाता है। उगी पर्वत के सम्बन्ध में वेशव कहते हैं—

‘संग सिखा विराज, गजमुख गात्र,
 परमूत धोल, चित्त हर ।’

परिनेत्या अलंकार में वेशव का यह पादित्य सूत्र निरूप आया है।
 ‘विषवा बनी न नारि’ में ‘विषवा’ शब्द का स्नेह भी बुरा नहीं है, किन्तु
 निम्नलिखित छन्द तो अद्वितीय है—

‘मूलन ही की जहाँ अधोगति वेशव माइय ।
 होम हुमासन घूम भगर एके मलिनारुप ॥’

नीचे के उदाहरण में ‘विरोधाभास’ का शाब्दिक चमत्कार यदि दुरुह
 न हो (विष का अर्थ जल जान लेने में यह दुरुहता दूर हो जाती है) तो
 परम रमणीय मालूम पड़ता है—

‘विषमय यह गोदावरी अमृत की फल देत’

किन्तु अलंकार का चमत्कार दिलाने के लिए भी धीरामचन्द्र जी को
 परदारप्रिय कहने में पाप लगता है—

‘परदार-प्रिय साधु मन दप बाध के’

परदार शब्द स्त्री और पृथ्वी तथा दूधरी स्त्री को भी कहते हैं।
 विरोधाभास दूसरे की स्त्री अर्थ लगाने में ही टीका बैठता है। ‘मंदेश’ अलंकार
 की बल्यता में वेशव बड़ी-बड़ी बहक भी आते हैं—

विशेष रक्षा-रक्षण पर ध्यान-गहरी भाषा के शब्द भी पाये जाते हैं। 'माहि-रा' शब्द के बदले में हमारा साधन यह है कि उनमें जो सौन्दर्य है वह न तो मूल की भाषा के समान व्यवसाय के स्वाभाविक स्वभाव का है और न विदेशी की भाषा के समान साधन का। प्राकृत-प्रवर्तन की प्रवृत्ति के कारण केवल की भाषा मूल-प्रवृत्ति हो गई है; उनमें ऐसे मूल्यवान् शब्दों के अभाव में भाषा के निम्न मूल्यवान् शब्दों की समझ गयी। मूल्य के अर्थ में 'मिथ' शब्द, अर्थात् के अर्थ में 'हमारा' शब्द, मथवा (इन्द्र), मिथ (गौरी), गरी-गौरी (गौरी) मिथ (गौरी) शब्दों का प्रयोग हिन्दी-भाषा को मूल्यवान् गयी है। इन प्रवृत्ति-प्रवर्तन शब्द और मथवा भी प्राकृतिक शब्दों के कारण शुद्ध हैं।

२८ 'धनु है यह गौर मदायन माही'

केवल की भाषा प्रायः व्याकरण की दृष्टि में भी शुद्ध है। यही नहीं धनु-मदायन शब्द भी जो सुवात आदि के निमित्त ही जान होता है। 'विश-दोष का और क्या कारण होगा?—

२ 'भीष्टे मथवा मोहि दाप दई'

'दाप' शब्द पुनिग है इस हेतु 'दई' के स्थान पर 'दयो' होना चाहिए। इसी भाँति:—

'अंगद रक्षा रघुपति कीन्हो'

म 'कीन्हो' के स्थान पर 'कीन्ही' होना चाहिए।

अलंकार:—केवलवाद अलंकारवादी के और उन्होंने 'कवि-प्रिया' में स्पष्ट कह दिया है कि—

'भूयन बिनु न राजई कविता-धनिता-मित'

अतः यह स्वाभाविक ही था कि वह चमत्कार का साधन बाह्य अलंकारों को ही बताते। अलंकार कोई बुरी वस्तु नहीं होती किन्तु वह अनुचित प्रयोग से स्वाभाविक सौन्दर्य को भी छिपा सकती है। अत्यधिक अलंकार भी कभी-कभी शरीर पर भार-स्वरूप जान पड़ते हैं।

वेशव के रूपक बड़े ही चमत्कारपूर्ण हैं:—

शोक की आग लगी परिपूरण

आइ गये घनदयाम विहाने ।

मानक के जनकादिक के सत्र

फूलि उठे तब पुष्प पुराने ॥

इसमें घनदयाम पर इलेय भी अति सुन्दर और सार्थक है ।

‘जनहृति’ भी समयानुबूल है—

भट, चातर दाबुर मोर न बोले ।

वर्षा सुगम ।

चरला खगकं न, फिर खंग लोले ॥

चमत्कार

दुतिवन्तन कहीं विपदा बहु कोहीं ।

नदग

धरनो बह चन्द्रवधू धरि रोहीं ॥ ११४७ ॥

अन्तिम दो पंक्तियों में दुतिवन्तों की दुर्गति में अपनी ओर और चन्द्रवधू द्वारा सीता की ओर इंगारा किया है ।

इस प्रकार आरम्भ से अन्त तक यद्यपि केशव में चमत्कार ही चमत्कार हैं (अतः अलंकार वही-वही भरे भी लगने लगते हैं) किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि उनका अलंकारो पर अमाधारण अधिकार नहीं है । परिसंख्या आदि के उदाहरण तो इनके समान कोई लिख ही न सका । वही-वहीं यह सुन्दर तुलनात्मक विरोध भी बड़े स्वाभाविक रूप से आये हैं—

गिन्यु तरघो उनको बनरा तुमपे धनु रेल गई न तरी ।

बाँदर बाँधत तो न बंध्यो, उन बारिधि बाँधि के बाँद करी ॥

शब्दालंकारों तथा अर्थालंकारों की पूर्ण भरमार इनके भाषायत्न की परिष्कारिका है । (विशेष ज्ञान के लिए देखिए ‘साहित्य सन्देश’ जुलाई १९४५ में हमारा निबन्ध ‘केशव की अलंकार-योजना’) ।

संवाद:—जिन समालोचकों ने केशव की कविता में केवल दोष ही ढाँप देखे हैं उनको भी यह स्वीकार करना पड़ा है कि केशव के ने ग़ाज़द हिन्दी का कोई भी दूसरा कवि नहीं लिख सभा है । उनके संवादों में कई अने गुण हैं । एक तो यह है कि कवि ने अपने संवादों में पात्र-निर्देश को बाल्य

‘अरुण गान सति प्रातः पविमनी-प्रागनाथ भय ।

गानह केशवदास कोरुनद कोरु प्रेम भय ॥

ॐ श्रीगुरुभ्यो नमः ॥ गङ्गापूर केशवों मंगल घट ।

रिपो दशक को छत्र मर्याद मानिक-मयूख पट ॥’

यहाँ तक तो अत्यन्त शुभ और मंगलमय वर्णन है, किन्तु—

‘कं शोणित कलित कपास यह

रित कपासिक काल को ।’

के कहते ही जुगुप्सा उत्पन्न हो जाती है (विशेषकर मंगल अवसर पर) इसके पदार्थ—

यह कलित काल केशवों सतत

दिगभामिनी के भाल को ।

को जोड़कर कवि ने फिर दिगम्बरी यात्रा बना ली है । दोनों पक्तियों को एक साथ पढ़ने से ऐसा भाव होता है मानो टूटे इसके पर बैठ कर सड़क का एक दृष्टा पार किया हो ।

उपमानों की रोज में भी केशव ने कोई-कोई भूल की है । रामचन्द्र को उलूक के समान गुण वाला कहना—

यात्रा की सम्पदा उलूक ज्यों चितवत ।

यद्यपि कुछ साहित्यिक को शास्त्र हो जायेगा तथापि भक्तों को अवश्य सटकेंगा । इसी भाँति—

पाण्डव की प्रतिमा सभ लेखी ।

अर्जुन भीम महामति देखी ॥

में शब्द साम्य की विडम्बना लाला भगवानदीन जैसे केशव के भक्तों को भी सटकती है । रामचन्द्रजी के मुख से पाण्डवों का उल्लेख कराना काल-विषद दूषण है (यह दोष रामचन्द्रजी को त्रिकाय मान लेने में भी बना रहता है क्योंकि वे नर-लीला कर रहे थे) । अस्तु, कुछ उपमाएं अपूर्व बन पड़ी हैं—

लोक तो लिखत नम पाहन के अंक तो ।

में तेज गति की उपमा वास्तव में अद्वितीय है ।

धन तोउ हरं गिनरी बहि बेजय,

अथवा धन दुर्गम सों ॥

मीने के वर्णन में मर्यादा तुलसीदासजी की मर्यादा पर ब्रह्म-मुकुमारदासजी हैं (क्योंकि तुलसीदासजी की भोग रामचन्द्र वद-अंकों को बचाकर पानी हैं) मर्यादा शृंगार की दृष्टि में यह भक्ति काही गरम है, देखिए—

‘भारत की रत्न तागि है भक्ति, बेजय सोनह सोनस लागति ।

प्यो पद-अक्षर ऊपर पायनि, बं नु धन तोहि ॥ गुणवापिनी ॥’

बेजयदासजी ने गीता और राम के विषयों का अच्छा वर्णन किया है किन्तु यह परम्परा-भूत हो गया है । गीताजी की निम्नोन्निहित उक्ति उनके हृदय की बेजयमयी चिन्ता का परिचय देती है—

‘ओ पुर में, धन मय्य हौं, तू मग करी अनौति ।

बहि भुवरी अथ तिमनि को को करिहं परसोति ॥’

श्री (लक्ष्मीजी) ने तो उनकी नगर में त्याग दिया, मैंने वन में त्याग दिया और तूने उन्हें रास्ते में त्याग दिया । हे मुद्रिके ! अब त्विषों का कौन पदवाग करेगा ? इसमें राम के अनुरोध की व्यवस्था है ।

इसका की धीरगा सम्बन्धी कुछ गवौन्तिमां बड़ी मार्मिक हैं—

कातु बात बड़ी न कहौ मुख पोर,

दोखे

सब सों न जुरो सवणासुर भोरे ॥

विज-बीज ही बल ताहि संहारयो ॥

मरही नु रही नु बहा तुम भारयो ॥

यद्यपि केशव के लिए यह कहा जाता है कि वे करुणा के दृश्यों के वर्णन अधिक सफल नहीं हुए तथापि वास्तव में बात ऐसी नहीं है । उन्होंने रणा के स्थलों को अधिक विस्तार नहीं दिया है किन्तु जहां करुणा का वर्णन किया है वहां यह बड़ा मार्मिक है । वात्मल्य-सम्बन्धी करुणा का निम्नोन्निहित यह बड़ा हृदयस्पर्शी है—विश्वामित्र जब रामचन्द्रजी को अपने साथ ले लेते हैं उस समय का वर्णन केशव की सहृदयता का परिचायक है । देखिए—

यह बात मरत्य की मातु सुनी ।
 पठऊं बन रामहि बुद्धि गुनी ।
 सेहि मंदिर में नृप सों बिनयो ।
 घर देहु हृतो हमको जू दियो ।
 नृप बात कहो हंसि हेरि हियो ।
 घर मांनि सुलोचनि में जू दियो ।

मंमरा को इस दुस्य से बाहर रखने के कारण सारा उत्तराश्विन वैश्या पर हो आ जाता है । अस्तु ।

वनगमन समय रामचन्द्रजी द्वारा माना कौशल्या को वैश्य घर का उपदेश दिलाना अप्रासंगिक-सा हो जाता है । घटना के पूर्व ही ऐसी अनुमत्त वत्पना उपदेश देने का उत्तराश्विन ही कहा जा सकता है । वे रामचन्द्रजी को भविष्य का ज्ञान पाहे हो किन्तु अंगर के पूर्व एतद् ऐसी अनुमत्त बात की ओर सकेत अनुचित था, विशेषकर पुत्र के मृग से । यदि तो कौशल्या जैसी सती साध्वी के लिए यह व्यर्थ सा था किन्तु यदि उपदेश की आवश्यकता ही थी तो उसके अधिकारी गुरु ब्रह्मचारी थे और वह भी मृत्यु के पदपात् ही; किन्तु केशव ने मृत्यु के पदपात् तो लिगी है दो छन्द भी नहीं बढ़ाये ।

बस रंघ कीरि जीव यौ मिल्यो जगोत जाय ।

मेह छरि क्यों बजोर वाट में मिले उदाय ॥

(शुभोद-अधुनोद-अधुनोद । मेह-अधुनोद)

इसके अति ही रामचन्द्रजी की वागमन की सोझा का वर्णन ही बताया है । एक प्रसंग में दूसरे प्रसंग तक जाने में कुछ तारतम्य था कि वागमन के बाद में वागमन बताया है । वागमन की प्रसंग विविध की प्रसंग मुक्तिपथ की अन्तिम विचार प्रसंग है उपर्युक्त के कहने वाले की वागमन का प्रसंग नहीं बताते । वागमन विचार प्रसंग वागमन की प्रसंग की वागमन से ही वागमन प्रसंग बताया है वह वागमन विचार प्रसंग के ही वागमन है वागमन

की नियों के योग्य नहीं। (इस सम्बन्ध में केशवदासजी की कमजोरी का पहले ही इशारा कर चुके हैं।)

‘दासों मृग अंक कहें तो तों भुगर्भनी सब,
 यह सुपापर तुहं सुपापर मानिये।
 यह द्विराज, तेरे द्विजराजि राजे,
 यह कलानिधि तुहं कलाकलित बखानिये॥’

(मृग अंक—मृग है गोद में जिसके, चन्द्रमा का पर्याय है। चन्द्रमा के पक्ष में सुपापर सुधा को धारण करने वाला अर्थ लगेगा, ‘सुधा है, जिसके पक्ष में’ यह अर्थ सीता के पक्ष में लगेगा। द्विजराज-चन्द्रमा को द्विजराज होने है क्योंकि उसका दो बार जन्म हुआ था। सीता के पक्ष में—द्विजराज=दासों की पक्ष। द्विज दास को भी कहते हैं क्योंकि उसका दो बार जन्म होता है। चन्द्रमा कलानिधि है और सीता कलाविद् है।)

केशवदासजी भरतजी के चित्रकूट-जामन के प्रसंग में गृह का वर्णन करते हैं: ‘तरि संग गये गृह संग गये’ किन्तु इसका वर्णन कहीं नहीं आता।

उत्तराढ़ की कथा में विशेषकर अद्यमेय यज्ञ तथा सबपुरा के साथ उद के वर्णन में प्रबन्ध-निर्वाह अच्छा हुआ है। उत्तराढ़ में भी कहीं-कहीं वर्णन में उन्होंने मर्यादा का ध्यान नहीं रखा है। दासियों के नखशिख के वर्णन में चाहे सीताजी की अलौकिक मुन्दरता की शीघ्र व्यञ्जना हो किन्तु यह वर्णन रामचन्द्रजी की मर्यादा के विरुद्ध है। केशवदासजी ने हमको दासियों के बिखरे हुए मोती ही अधिक दिये। उनमें तारतम्य सूत्र का अपेक्षाकृत अभाव सा ही मिलता है।

धरित्र चित्रण—केशवदासजी का धरित्र-चित्रण इतना शरीरही है जितना उनका प्रबन्ध-निर्वाह। रामचन्द्रजी के शील और उनकी धर्म-भरामणता का हमको शुरू से ही परिचय मिल जाना है। महाकाव्य के समय उन्होंने विरचयित से पर्याप्त तर्क किया है। बेराव के समय इस अपराध से मुक्त रहने हैं। रावण-बाणाशुर-बार्तालाप प्रबन्ध की

भावों का लोचना

दृष्टि से निरयंक हो किन्तु उसमें रावण के चरित्र पर अच्छा प्रकाश है। केशव के चरित्र-चित्रण का कौशल उस समय मालूम होता है जब लक्ष्मणजी की मूर्छा छूटने पर वे उनसे पहली बात यही कहलाते हैं—'तब न जीवत जाय धरं।'

केशवदासजी को यदि साहित्य के उद्गमों में स्थान दिया गया है तो वे साधारण नहीं हैं, वरन् शुक्र की भाँति परम उज्ज्वल और प्रभापूर्ण हैं।

५२५१

